संन्यासी और सुन्दरी

[बौद्धकालीन वातावरण पर आधारित मौलिक उपन्यास]

लेखक :
यादवेन्द्र नाथ शर्मा 'चन्द्र'
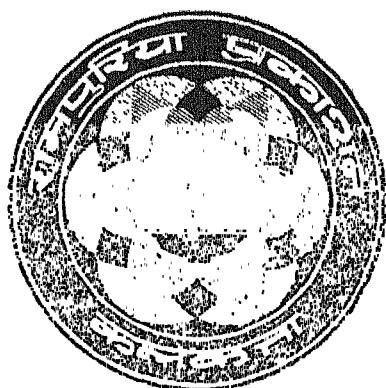
समर्पण—

रतनलाल जी रामपुरिया को
जिनके प्रयास से यह कृति
आपके कर-कमलों में आई।

—चन्द्र

मैं इतना ही कहूँगा—

साहित्य के विभिन्न दृष्टिकोण और भिन्न-भिन्न पहलू हाते हैं। उन पहलुओं के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों के कारण मत-मतान्तर की गहरी दरार है—विद्वानों के मध्य !

विचारक कहते हैं—किसी युग का साहित्य ही उस युग का सच्चा प्रतिविम्ब होता है। अतः वह कृति निसन्देह एक सफल कृति है जो अपने युग का वास्तविक प्रतिनिधित्व कर दे।

मैंने भी 'संन्यासी और सुन्दरी' के लिखने में इस बात का पूर्ण प्रयास किया है कि पाठक जब पढ़ें तो उसे तत्कालीन वातावरण की प्रतीति हो, वह उस युग के विभिन्न वर्ग की, विभिन्न परिस्थिति में उत्पन्न मनोवृति का सही रूप से सैद्धान्तिक भीत्ति पर दिग्दर्शन करती हो।

प्रश्न उठता है कि क्या इस कथा का कोई ऐतिहासिक धरातल है ?

उत्तर देता हूँ कि इस पुस्तक के लिखने के पूर्व मैंने तत्कालीन कई पुस्तकें पढ़ीं। पढ़ने के पश्चात मैं इस परिणाम पर पहुँचा कि इस कथा का ऐतिहासिक धरातल भी है और नहीं भी ? यह विरोधाभास है, लेकिन इस विरोधाभास के पीछे सत्य का आभास भी है। क्योंकि नर्तकी वासवदत्ता की कहानी हमें बौद्ध-धर्म के प्रामाणिक ग्रन्थ और पाली भाषा की कृतियों में नहीं मिलती, लेकिन यत्र-तत्र उसकी कथा प्रचलित है। विद्वान लेखक गोविन्द वल्लभजी पन्त ने भी इसी वासवदत्ता पर एक कहानी लिखी है।

बौद्ध-धर्म के यशस्वी लेखक महापण्डित राहुल सांकृत्यायनजी से भी इस पुस्तक के प्रकाशन के पूर्व इस विषय पर चर्चा करने का अवसर प्राप्त हुआ था तो उन्होंने भी विचारपूर्ण तथ्यों के पश्चात यही कहा कि बंगाल के चन्द साहित्यकारों ने बौद्ध-वार्ताओं के प्रति अत्यन्त स्वतन्त्रता से काम लिया है

सुप्रसिद्ध भिक्षुक भदन्त आनन्द कौसल्यायनजी ने भी राहुलजी के विचारों का समर्थन करते हुए यही कहा कि किंवदन्तियों का कुछ न कुछ वास्तविक तथ्य होता ही है और जो अत्यन्त प्रचलित वस्तु है, वह तो सत्य है ही। मैं भी इस कथन का समर्थक हूँ।

जो जन-जन के मन को भावनाओं को उचित पाथेय की ओर उन्मुख करता हुआ स्पन्दित कर दे, वही तो सत्य है और उस सत्य में सन्देह की गुँजाइश कम होती है।

आचार्य उपगुप्त की कथा से स्पष्ट प्रतीत होता है कि स्वयं उपगुप्त भी श्रेष्ठिवर थे और बाद में उन्होंने परिव्रज्या ली थी। उनके जीवन के उतार-चढ़ाव व वक्तृत्व-कला सुप्रसिद्ध हैं—प्रामाणिक बौद्ध-ग्रन्थों में।

राहुलजी ने वासवदत्ता का नाम परिवर्तित करने का कहा था, पर मैंने उनसे प्रार्थना की कि प्रचलित सत्य का खण्डन सन्देह का उत्पादक है। मैं मानता हूँ, संस्कृत साहित्य की यह वासवदत्ता नहीं है, पर इसकी अपनी कथा भी अत्यन्त लोकप्रिय है, महत्व-पूर्ण है।

मैंने इस बात का प्रयास किया है कि मेरा प्रत्येक चरित्र अपना विशेष व्यक्तित्व रखे। कम से कम वह अपने 'टाइप' के सभी व्यक्तियों की मनोभावना का सही प्रतिनिधित्व करे।

जैसे वासवदत्ता उस समय मेरे समक्ष आती है जब उसके अंग-अंग में वासना का उद्दाम उद्वेलित होने लगता है। मनु मनुष्य है, धनी है और उसके

अपने चक्र हैं। गृहलक्ष्मी भारतीय पत्नी है। राहुल भावुक-जिद्दी कवि है, सदैव अतृप्तता में जल कर अमर बनने की चिन्ता में है। उपगुप्त शैक्ष है, शैक्ष पर विपरीत विचारों का प्रभाव शून्य-सा ही पड़ता है। काल्पनिक पात्र हैं—राहुल, गृहलक्ष्मी, छोटे-मोटे।

अन्त में मैं उन आत्मीयों का आभार नहीं भूल सकता जिन्होंने मुझे अपना हार्दिक सहयोग दिया है—साहित्यकार श्री रामचन्द्र 'आँसू', ललितकुमार शर्मा 'ललित', अग्रज डूँगरदास बिस्सा और अपना वह अभिन्न जिसने जीवन के आरम्भिक क्षणों में साहित्य की ओर मेरी अभिरुचि उत्पन्न की—जमनाप्रसाद बी. व्यास 'नूनिया'।

आशा है, यह कृति आपको पसन्द आयेगी।

१०१२, शोभा-
राम बैशाक
स्ट्रीट, कलकत्ता

॥ जय श्रम ॥

संन्यासी और सुन्दरी

मंगलामुखी ने मन्द मुस्कान के साथ कहा—"यौवन छलकता हुआ मधुघट है।"

"नहीं, महासागर में अस्तित्व विलीन करने वाली एक चञ्चल धारा।"

"मैं नहीं मानती।"—अर्धविकसित कमल सदृश नयन खुल कर पुनः मदहोश हो गये।

"सत्य को सत्य मानना ही पड़ेगा, आज नहीं तो कल, कल नहीं तो कुछ काल पश्चात्।"—मनु ने शैया पर मदोन्मत्ता-सी पड़ी रूपसी को गंभीरता से सम्बोधित करके कहा—"वासवदत्ता! श्रावण माह के अन्धे को सदैव हरा ही प्रतीत होता है।........यौवन में मदान्ध, वैभव की उत्ताल तरंगों में प्रवाहित होनेवाले प्राणी को उस मरुभूमि का ज्ञान नहीं होता जहाँ उसकी प्रवृत्तियाँ-कुवृत्तियाँ एक मरीचिका का सम्मोह रखती हुई समाप्त हो जाती हैं।"

वासवदत्ता की उत्तेजना पूर्व से और अधिक तीव्र हो उठी थी। उसकी तीव्रता से आकुल होकर उसने समीप पड़े मधु-चषक को उठाकर

मनु के कर-कमलों में थमा दिया। मनु ने एक क्षण उसके अनुपम अंग-प्रत्यंग को पर्यवेक्षण दृष्टि से निहारा—वासवदत्ता के सौन्दर्याभिमुख आनन की सौजन्यता, सौम्यता और शालीनता लुप्त हो चुकी थी। कुछ क्षण पूर्व उसके नयनों में लज्जा का जो आवरण था, वह अस्त होते सूर्य के प्रकाश की भाँति विलीन हो चुका था। एक कम्पन, एक सिहरन, एक मादक उत्तेजना उसके रोम-रोम में नर्तन कर रही थी।

वह मनु के सन्निकट आई। मनु से उसके तन का स्पर्श हुआ। मनु उत्तेजित हो उठा! वह हकलाता हुआ बोला—"रूपसी! एक चषक और पिलाओ।"

"एक क्यों, जितनी प्यास है, उतनी पीओ। जानते नहीं, तुम नगर की प्रतिष्ठामयी पातुर के यहाँ हो, निष्ठामयी नर्तकी के यहाँ हो, विश्रुत वेश्या के यहाँ हो। यहाँ तुमको सर्वस्व मिल सकता है।...... यहाँ सुरा का अभाव नहीं, अभाव है तो एक वस्तु का!"—प्रश्न-भरी दृष्टि से वासवदत्ता मनु की ओर देख रही थी।

मनु ने अपने कर में चषक को लेकर चौंक कर पूछा—"वह क्या?"

"हृदय।"

"हृदय!"—मनु ने हठात् विस्मय से शब्द को दोहराया।

"हाँ प्यार!......मनु प्यार!!"—हल्का कटाक्ष किया वासवदत्ता ने—"मैं तुम्हें सर्वस्व प्रदान कर सकती हूँ, पर प्यार नहीं, न जाने प्यार इस हृदय से कहाँ लुप्त हो जाता है?"—वासवदत्ता अब उसकी ओर आमुख हुई। अपने आँचल को उन्नत-उरोजों से हटाकर मदान्धी की

भाँति तनिक दीर्घ स्वर में बोली—"देखो न, तुम मेरे पर अपना प्राण बलिदान करना चाहते हो, सर्वस्व विसर्जन करना चाहते हो, पर मैं कितनी निष्ठुर हूँ कि तुम्हें प्यार नहीं दे सकती।........मेरे प्यार की स्वीकारोक्ति ही तुम्हारे भाग्य की विधायिका है। पर........।"

शब्दों ने आन्तर की मादकता की लहरों के मध्य ही साँस तोड़ दिया। वासवदत्ता झूमती हुई 'जनसम' दर्पण के सम्मुख आई और अपने ही रूप का दर्शन करके रूपगर्विता की भाँति बोली—"तुम मिथ्या भाषण करते हो प्रिये!........यौवन न तो मधुघट है और न चञ्चल धारा अपितु यौवन एक प्रज्वलित प्रदीप है जिससे प्राणी का जीवन-पथ आलोकित होता है।"

"नहीं!........यौवन वह अन्धा झंझावात है जिसमें प्राणी अपना विवेक, प्रज्ञा, गुण और विद्या सर्वस्व विस्मृत करके एक लिप्सा के पीछे भागता है। जानती हो?"—मनु ने एक झटके के साथ उसे अपनी ओर खींच कर अपने वक्ष से नितान्त सटा लिया—"जब यौवन रूपी झंझावात का आगमन होता है तो वह अपने प्रत्येक प्रतिद्वन्दी को चाहे वह अपराधी हो या निरपराधी विनष्ट कर देता है, इसी प्रकार यह यौवन मनुष्य को एक लिप्सा के पीछे भगाता रहता है और वह लिप्सा उस प्राणी का सर्वनाश कर देती है या उसकी समस्त अनुभूतियों में ग्लानि का प्रादुर्भाव कर देती है।"

"आजकल बड़े दार्शनिक होते जा रहे हो?"—व्यंग था रूपसी के स्वर में।

"तुम्हारे संग का यही प्रभाव है।"—तुरन्त मनु ने कहा। झेंप

गई वासवदत्ता। विषय को परिवर्तित करती हुई बोली—"मैं यौवन को जीवन मानती हूँ और यौन को उसकी पुण्य ज्योति।"

"मैं यौवन को एक आवेग के रूप में जानता हूँ और यौन को उसकी तृप्ति का साधन ; क्योंकि यौन की तृप्ति ही उस आवेग की सन्तुष्टि है।"—गम्भीर प्रश्न का गम्भीर उत्तर था।

"इतनी सही बातें कह कर भी तुम स्वयं क्यों पथ-विस्मृत हो ? यह देख मुझे विस्मय होता है।"

"दर्शन की बातें जीवन की नहीं होतीं, आदर्श और व्यवहार के मध्य विशाल व्यवधान है।"

वासवदत्ता मनु की वाक्य-चातुरी पर मग्न हो गई। अपने कर-कमलों से उसके युग्म कपोलों को पकड़ती हुई प्यार से बोली—"यदि तुम जीवन के दर्शन को इसी प्रकार चिन्तन-मनन से समझकर मुझे सरल शब्दों में बताया करो तो कितना आनन्द रहेगा। मैं सच कहती हूँ कि मनु तुम्हारे पर अपना सर्वस्व अर्पण कर दूँ ?"

"ऐसा तुम सदैव सुरा की मादकता में कहा करती हो। जब तक मधु का प्रभाव तुम्हारी धमनियों व शिराओं में रहता है तब तक तुम नगर के श्रेष्ठी, अमात्य मनु को विरक्ति और अनुरक्ति के पाठ पढ़ाया करती हो।"—मनु ने वासवदत्ता को अपने हृदय से लगाकर भावुकता से अतिरंजित स्वर में कहा—"वासवदत्ता ! जीवन की अन्तिम परीधि में प्राणी वैराग्य की ओर उन्मुख होता है। यौवन भोग्य है, समझी ? क्योंकि जीवन की परिभाषा सदैव एक ही रही है। उत्सुकता हो तो बताऊँ ?"

"........" केवल गर्दन हिलाकर वासवदत्ता ने हाँ का संकेत किया। मनु वहाँ से उठकर दीवट पर रखा दीपक उठा लाया। उस दीपक की ओर इंगित करके मनु बोला—"यह क्या है?"

"दीपक!"

"यह दीपक ही जीवन है। जब तक यह अपने प्रखर प्रकाशपुँज से सृष्टि को भासित करता रहेगा, तब तक तुम और मैं सृष्टि की समस्त वैभव-कलाकृतियों, सुखद उमंगों-तरंगों, उत्थान-पतन का दर्शन करते रहेंगे। और जब बुझ जायेगा........?"

"...... तो?"

"तो घोर तिमिर छा जायेगा, निविड़ अन्धकार छा जायेगा और यह अन्धकार ही मृत्यु है।"

"कैसे?"—अपने कमनीय कपोलों को मनु के अधरों के सन्निकट लाती हुई वासवदत्ता मनु को एकटक देखने लगी।

"ऐसे!"—फूंक मारकर मनु ने दीपक को लय कर दिया। प्रकोष्ठ में गहन अन्धकार का साम्राज्य स्थापित हो गया। कुछ काल पूर्व जो अतुल वैभव-राशि बिखरी पड़ी थी—वहाँ केवल शून्य की प्रतीति हो रही थी, घोर शून्य की।

मनु सँभलता हुआ बोला—"यही मृत्यु है, एक अन्धकार, एक शून्य, एक अचेतन, बस!"

वासवदत्ता ने तुरन्त परिचारिका को दीपक ज्वलित करने की आज्ञा दी तथा तिमिर में मनु को सम्बोधित करती हुई बोली—"मनु! जब

तुम आसक्ति की तृप्ति करने में असफल होते हो तो अत्यन्त उपेक्षा व विरक्ति की बातें किया करते हो। ऐसा क्यों ?"

मनु के होठों पर स्मित छा गई जिसे अन्धकार में वासवदत्ता देख नहीं सकी। अपने स्वर को कोमलत्तर बनाता हुआ वह बोला—"यह प्राणी की स्वाभाविक दुर्बलता है। अतृप्ति की प्रतिक्रिया असन्तोष के रूप में होती है और वह असन्तोष कभी-कभी प्राणी को अपराध की ओर भी अग्रसर कर देता है।"

"तो तुम........?"—वह वाक्य पूर्ण करने ही न पाई थी कि दीपक से प्रकोष्ठ आलोकित हो उठा। युवा परिचारिका ने उन दोनों को जिस स्थिति में देखा, उस स्थिति में वह पल भर के लिये नहीं ठहर सकती थी अतः तुरन्त बाहर हो गई।

वासवदत्ता उपहास की हँसी हँसकर बोली—"मनु! तो भी तुम्हें मानना ही पड़ेगा कि यौवन जीवन की पुण्य ज्योति है। विश्वास न हो तो इस परिचायिका से ही पूछ लो जो हर सान्ध्य वेला सरिता में दीप-मालिका के अर्पण के बहाने अपने प्रेमी से अभिसार करने जाती है। एक बार मैंने उससे पूछा था कि तुम केवल इस निम्न बात के लिये मुझसे मिथ्या भाषण क्यों करती हो तो उसने क्या उत्तर दिया ?....सुनोगे तो विस्मय करोगे। वह कहने लगी—स्वामिन! यौवन मेरा जीवन है पर यह जीवन परतंत्र है। परतंत्रता मुझे दुष्कर्म की ओर प्रेरित करती है। मैं क्या करूँ ? मैं जीवन का आनंद लूटना चाहता हूँ और आनंद चिर नहीं है, क्षणिक है क्योंकि जब यौवन शाश्वत नहीं तब जीवन चिरन्तन कैसे रह सकता है ?...यौवनोपरान्त जीवन एक बोझ है, एक

सिसकता हुआ स्वार्थ है जिसे प्राणी केवल मोहवश ढोता रहता है। इस लिए मैं दीपमालिका के अर्पण के बहाने, मैं अपने प्रेमी को अपने जीवन का महान् समर्पण करने जाती हूं ताकि जब यह जीवन बोझ हो जाये तो इसे ढोने में उतना ही कष्ट हो जितना आनंद उसके पूर्व प्राप्त हुआ हो।"—अवाक्-सा सुनता रहा उसके शब्दों को मनु। वासवदत्ता ने स्थिर पलकों को करके पूछा—"क्यों मनु, अब तुम्हारे विवेक की क्या धारणा है?"

"मेरा विवेक! मेरे विवेक की धारणा धूप-छाया नहीं जो पल-पल में परिवर्तित होती रहे। हाँ, इसका उत्तर समय देगा कि यौवन जीवन की पुण्य ज्योति है या गहन अन्धकार।"

"पराजित हो गये मनु तुम!"—वासदत्ता ने उपेक्षा से कहा।

"कोई बात नहीं, न मैं कोई दार्शनिक हूँ और न कोई विचारक! तुम्हारे यहाँ मनो-विनोद को आता हूँ, जीवन उन्माद लूटने आता हूँ। आओ, एक चषक और पिलाओ।" मनु का हाथ चषक के लिये बढ़ गया।

वासवदत्ता ने एक चषक और थमाया। मनु एक ही साँस में पी गया। इसके पश्चात नगर की प्रसिद्ध नर्तकी रंगील की मधुर स्वर-लहरी के संग नृत्य करने लगी। लक्षाधीश मनु उसके मादक नृत्य पर चाँदी की वर्षा कर रहा था।

मनु वासवदत्ता के कामोत्तेजक अंग-प्रत्यंग को देखता रहा।

अप्रत्याशित गगन से एक तारा टूटा पर मनु अपने सम्मुख चमकते हुए तारे को ही देख रहा था—मंत्रमुग्ध-सा।

और वासवदत्ता नाचती ही जा रही थी।

प्रभात की स्वास्थ्यवर्धक प्रातः समीरण मन्द-मन्द गति से प्रवाहित होने लग गई थी। प्रतीची के प्राँगण में तिमिर का पराभव हो चुका था और प्रकाश का उद्भव।

गगन मण्डल में प्रातः आगमन का सन्देश सुनाने के लिये कौवे उड़ रहे थे।

नगर वीथियों से व्यापारियों का आगमन हो रहा था।

धीरे-धीरे हल्का-हल्का कोलाहल धरती से उठकर नभ की ओर बढ़ रहा था।

नगर की सुप्रसिद्ध नर्तकी-गणिका वासवदत्ता के दर्शनीय भवन के सम्मुख से एक अत्यन्त सज्जित रथ ने प्रस्थान किया। उसमें नगर के श्रेष्ठ वणिक-पुत्र श्रेष्ठी मनु विराजमान था। उसकी पलकें अभी भी उनींदी थीं। तन के वस्त्र अस्त-व्यस्त थे, जिससे सहज ही इस बात का अनुमान लगाया जा सकता था कि मनु आज सदैव से तनिक काल पूर्व प्रस्थान कर रहा है—श्रेष्ठ नगर की नागर नर्तकी के गृह से; क्योंकि वे प्रायः सज्जित होकर ही प्रस्थान किया करते थे।

मनु वासवदत्ता पर आसक्त था। उस पर सर्वस्व विसर्जन करने के लिए तत्पर था। आज से नहीं—पूरा एक युग व्यतीत हो रहा था जब श्रेष्ठी मनु ने वासवदत्ता को राजकीय उत्सव में नृत्य करते देखा था।

कितनी सलोनी व आकर्षक थी वासवदत्ता!

मनु उसे देखकर मुग्ध हो गया था, मोहित हो गया था पर हृदय के समस्त उन्वेगों का शोषण करके शान्त बैठा रहा।

अन्तर में घोर अशान्ति थी और नयनों में आन्तरिक आकुलता।

मनु उत्कंठा से चाह रहा था कि नर्तकी उसे एकबार देखे, बस एक बार, केवल एकबार।

पर यौवनोन्मुख नर्तकी केवल नृत्य कर रही थी—संगीत की मधुर स्वर लहरी पर, वाद्ययंत्रों के निर्देशन पर।

इस उपेक्षा से मनु तड़प उठा। अपने आप से कह बैठा—

"निर्मोहिनी !"

एकदम निर्मोहिनी निकली वासवदत्ता।

क्या करता मनु ?

सौन्दर्य, माधुर्य और सौजन्यता की प्रतिमूर्ति वासवदत्ता के प्रति वह चुम्बक के सदृश्य आकर्षित होता ही जा रहा था।

लाचार हो उसने खाँसा। सोचा—इस अशिष्टा के कारण वासवदत्ता उसे अवश्य देखेगी, चाहे सरोष ही।

पर पाषाण-हृदयी गायिका ने इस बार भी मनु पर दृष्टिपात नहीं किया।

मनु झुंझला उठा—"अभिमानिनी !"

पर वासवदत्ता अपनी ही मस्ती में मस्त झूम रही थी—घुँघरू की झंकार पर।

अमात्य की आकुलता बढ़ती ही गई।

कार्यक्रम निश्चित समय पर समाप्त हो गया। नृत्य रुका। ताली-

-वादन हुआ। मधुर कल्पनाओं व उधेड़ बुनों में खोया जन-समूह चौंक कर कह उठा—"सुन्दर, अति सुन्दर।"

और देखते-देखते उपहारों के भेंट लग गये—नर्तकी के चरणों पर। जैसे लक्ष्मी सरस्वती के चरणों में पड़कर अपने को सौभाग्यशाली मानती है।

मनु विवेक-विस्मृत सा वासवदत्ता की ओर उन्मुख हुआ! वासवदत्ता ने अपनी ओर आते हुए मनु को अर्थ भरी दृष्टि से देखा—पूर्ण यौवन, सुन्दर, आकर्षक, उन्मन, स्तंभित।

वासवदत्ता अनिमेष दृष्टि से देखती रही—उस युवक को और युवक भी अरमान भरी दृष्टि से देख रहा था उसे।

समस्त दर्शकगण इस नाट्य-दृश्य को मौन होकर देख रहे थे।

संगीत-शास्त्री अबोध बालक की भाँति उस युवक को वासवदत्ता के सन्निकट देखकर, देखने लगे और वासवदत्ता भी उस युवक का इतने बड़े जन-समूह के समक्ष निकटतम सामीप्य पाकर प्रस्तर-प्रतिमा की भाँति जड़वत हो गई।

मनु ने अस्फुट स्वर में कहा—"धन्यवाद!"—उसका मुँह वासवदत्ता के कपोल के निकट हो गया था—"श्रेष्ठ सुन्दरी! तुम्हारे अनुपम नृत्य और मधुर गीत गाने के लिये कोटिशः बधाइयाँ।" और उसने वासवदत्ता का कोमल कर अपने कर में लेकर उसकी अंगुली में एक अत्यन्त अमूल्य मुद्रा पहनादी।

एक क्षण के पश्चात सारे मण्डप में हलचल मच गई।

वासवदत्ता स्वयं संकोच में गड़ी जा रही थी और नगर का श्रेष्ठी

मनु उससे हठात् बिलग होकर उत्सव-मण्डप से बाहर आकर अपने रथ पर आरूढ़ हो गया।

रथ चल पड़ा।

यह था इन दोनों का प्रथम मिलन—
नगर के श्रेष्ठी वणिक युवक का,
नगर की प्रसिद्ध गायिका वासवदत्ता का।

× × ×

सांध्य-प्रदीप नगर के समस्त गृहों में प्रज्वलित हो चुके थे।

शान्त होता हुआ कोलाहल अस्त होते सूरज की भाँति एक बार सतेज हो करके कर्ण-कुहरों को अप्रिय-सा लगने लगा था।

कुछ प्रवासी-व्यवसायी गाड़ियों पर माल लादे अपने-अपने लोक-गीत गुनगुनाते जा रहे थे।

काम से निवृत नगर का तरुण वर्ग उद्यानों एवं भ्रमणीय-रमणीय स्थानों की ओर प्रस्थान कर रहे थे।

मनु ज्योंही नूतन वस्त्र पहनकर गृह से भ्रमणार्थ बाहर जाने के लिये उद्यत हुआ त्योंही उसकी पत्नी गृहलक्ष्मी ने विनय पूर्वक कहा—"स्वामी! आज सांध्य-बेला बिना भोजन किये बाहर जाने का कारण?"

"सुमुखि! विशेष कारण नहीं। आज तनिक मन उन्मना है अतः बिना भोजन किये ही बाहर जा रहा हूँ, शायद आज खाऊँगा भी नहीं।"—एक अनिश्चितता थी मनु के स्वर में और मनु तुरन्त गृह से बाहर हो गया। गृह-लक्ष्मी उसे शंका भरी दृष्टि से देखती रही।

एक पल बीता ही था कि सारथी ने आकर नतमस्तक होकर कहा—"स्वामी ने कहलाया है कि आज उनका किसी मित्र के यहाँ जाने का कार्यक्रम है, इसलिये वे रात को लौटेंगे नहीं।"

गृहलक्ष्मी ने विनयपूर्वक कहा—"मेरी ओर से आग्रह के साथ कहना कि रात को एकाकी एकान्तवास करना श्रेयस्कर नहीं है, फिर अमात्य की अपनी इच्छा ?"

सारथी उत्तर सुनकर चला गया।

रथ ने हौले हौले प्रस्थान किया।

गृहलक्ष्मी ने आकर अपनी परिचारिका देविका को पुकारा।

देविका मनु की क्रीत दासी थी। आज से नहीं, जब वह आठ साल की थी तो उसे मनु ने क्रय की थी। जब अपने पिता से बिछुड़ रही थी, तत्काल वह सिसक-सिसक रो रही थी पर आज तो उसके अंग-प्रत्यङ्ग में यौवन टपक रहा था। तरुणाई की अरुणाई उसके कपोलों पर आच्छन्न हो गई थी। उसकी प्रत्येक गति में एक अपना अनोखापन था। गृह-स्वामिनी के पुकारने का स्वर सुनकर वह भागी-भागी आई। पूछ बैठी—"क्या है ?"

"आज तुम्हारे स्वामी रात को विलम्ब से आयेंगे, न आने की भी सम्भावना है।"—स्वर में गहरी निराशा थी।

"ऐसा कभी हो सकता है ?"

"हुआ तो नहीं पर होने के लक्षण दीख रहे हैं; क्योंकि मेरे हृदय में सन्देह के अंकुर उगे जा रहे हैं।"

"नारी जाति का हृदय ही सन्देह-मय होता है। आप तो एक साधारण नारी हैं। स्वामिनी! बड़ी-बड़ी महासतियाँ और महादेवियाँ भी इस आवर्तन में चिन्तित हुए न रह सकीं।"

"आज उनका मन भी अशान्त था?"

"हो सकता है।...पुरुष जाति है, संसार की लाख चिन्तायें लगी रहती हैं—वाणिज्य की, समाज की, धर्म की, देश की। पर आप व्यर्थ ही चिन्तित होती हैं। मैं कहती हूं वे आयेंगे और अवश्य आयेंगे।"—कहकर देविका तीर की भाँति चली गई। गृहलक्ष्मी उस ओर देखती रही, विचारती रही और अन्त में शनैः शनैः चरण उठाती शृङ्गार-कक्ष की ओर चली गई।

अपने पति की तनिक उपेक्षा देखकर गृहलक्ष्मी अत्यन्त शंकाकुल हो उठी थी। बार-बार वह "जन सम-दर्पण" के सम्मुख जाकर अपनी रूप छटा को निहारती थी, उस पर लघु विवेचना करती थी और अपने मन से ही अपने मन की बातें कहने लगती थी—"विधाता की कृति में किसी प्रकार का अभाव नहीं, फिर अराध्यदेव की यह अप्रत्याशित-सी उपेक्षा,....ऐसा क्यों?"

और वह तुरन्त शृंगार करने बैठ गयी।

आज उसने देविका का भी सम्बल लेना उचित नहीं समझा। वह स्वयं बड़ी चतुराई से अपना शृङ्गार कर रही थी जैसे इस शृङ्गार में उसके संसार का एक रहस्यमय सार निहित है। शीश से लेकर नख तक उसने बेजोड़ शृङ्गार किया।

उस अनुपम रूप में वह नव परिणीता-सी लग रही थी।

अपने पति को अपने यौवन पर विमोहित करने के लिये उसने अपने उरोजों पर कसी कंचुकी को और कस लिया था।

एक बार उसने पुनः दर्पण में देखा।

यौवन स्वयं बोलने लगा था।

मानिनी कामिनी की भाँति वह संभल-संभल कर चरण उठाती शयनकक्ष के द्वार पर खड़ी होकर मनु की प्रतीक्षा करने लगी।

रजनी-रानी तारों की चुनरी ओढ़े अपने मुखचन्द्र को घन-घूँघट में छिपाने की क्रीड़ा कर रही थी।

वातावरण शून्य और शान्त होता चला जा रहा था।

पुतलियों पर पलकें-रूपी आवरण बरबस छाता जा रहा था। कभी-कभी वह सो भी जाती थी; लेकिन सुप्तावस्था में ऐसे चौंक पड़ती थी जैसे उसकी सुखद निद्रा में किसी निर्दयी ने जोर का आघात कर दिया हो।

निशीथ—बेला में वह उठी और प्रकोष्ठ में चहल कदमी करने लगी। रह-रह उसके मानस-पटल पर मनु की अलौकिक छवि नाच उठती थी।

और मनु...?

गृह से प्रस्थान करने के पश्चात् उसका अभिनव रथ सीधा नर्तकी के विशाल भवन के समक्ष रूका।

नर्तकी वासवदत्ता वातायन में बैठी-बैठी राज-पथ का आवागमन देख रही थी। आज उसने पुष्प-शृङ्गार कर रखा था। रथ के रुकने के क्रम को देख करके उसने परिचारिका को आज्ञा दी कि वह श्रेष्ठी को

सम्मान सहित भीतर ले आये और स्वयं तोरण-द्वार की ओर उन्मुख हुई—श्रेष्ठी के स्वागत हेतु।

मनु ने प्रवेश करते ही भव्य-भुवन की सजावट को देखा और तत्पश्चात् यौवन बाला वासवदत्ता को। सुकुमार वासवदत्ता मनु के समक्ष संकोच से गड़ी जा रही थी। गौरवर्ण, अंजन मय खंजन से नयन, शुक नासिका, अरुणिम आभा लिये कमनीय कपोल, रसीले अधर और पतली कमर। तन पर गहरे नीले रंग की साड़ी शोभित थी जो दृष्टि के सम्मोह में उन्नत-उरोजों से छिटक कर कटि प्रदेश पर लहराने लग गई थी।

दोनों एक दूसरे को अल्प काल के लिये देखते रहे—अप्रतिभ से, विमोहित से।

वासवदत्ता को प्रतीत हुआ कि उसके समक्ष स्वयं "काम" खड़ा है, रति-पति अनंग-सुडौल, सुन्दर और सलौना।

न जाने क्यों वासवदत्ता की पलकें धरती की ओर झुक गईं। प्रणाम के लिये कर आबद्ध हो गये। संकेत भीतर प्रविष्ट करने का था। मनु मंत्रवत् सा भीतर जा रहा था।

विश्राम-देह गद्दे पर आसीन होते हुए मनु ने मौनता भंग की—"पहचानती हो श्रेष्ठ गणिके हमें?"

"जी श्रीमन्त! राजकीय-उत्सव में यह मुद्रा आपने ही पहनाई थी।"—उसका संकेत अंगुली की ओर था।

"यह भी जानती हो कि हमने यह मुद्रा तुम्हें क्यों पहनाई थी?"—मनु की आँखों में एक परिचित प्रश्न और उसका उत्तर, दोनों थे, तो भी वासव के मुखारविन्द से सुनने के हेतु उसने ऐसा पूछा।

"रूप पर आसक्ति ?"—थोड़ा कहकर वासवदत्ता मनु के समीप बैठ गई। मनु ने टेढ़ी भौंहें करके वासवदत्ता को देखा—वासवदत्ता अपने हाथ की हस्त-रेखा को ध्यान मग्न-सी देख रही थी।

आसक्ति क्यों कहती हो, क्या प्रेम से नहीं ?"

"प्रेम का प्रादुर्भाव इतना सहज नहीं है श्रीमन्त !...और आसक्ति तो अतृप्तता व उत्तेजना का प्रथम चरण है। आपने मुझे समारोह में एक दृष्टि भर को देखा और उस पर आप अपना कौटुम्बिक गौरव विस्मृत करके भरी सभा में यह मुद्रा पहनाई।...मैं पूछती हूं कि आपने ऐसा क्यों किया ?"—एक आग्रह था उस चंचला के स्वर में।

"प्रेमवश।"—लघु उत्तर दिया मनु ने।

"आप जैसे भद्रजन के लिए मिथ्या-भाषण शोभनीय नहीं लगता श्रीमन्त ! प्रेम वही है जो निर्द्वन्द्व, निष्काम, निर्विकार और निर्विराग हो और आप मेरे यहाँ हृदय के उठते झंझा की तृप्ति के लिये नहीं आये हैं ?...सच बताइये कि आप मेरे इस अनुपम सौन्दर्य की जीवन भर अर्चना करेंगे?...कदापि नहीं।"—वासवदत्ता की वाणी में दृढ़ता के साथ-साथ गंभीरता का भी समावेश हो गया।

मनु कुछ विचलित हुआ।

वार्ता तूल न पाये इस वास्ते विषय को परिवर्तित करता हुआ मनु बोला—"रूपसी !"

"रूपसी !"—चौंक पड़ी वासवदत्ता।

"हाँ, मैं तुम्हें भिन्न-भिन्न नामों से पुकारना चाहता हूँ। इससे मुझे अत्यन्त आनन्द की अनुभूति होती है।"

"नगर के प्रतिष्ठित सामन्तों व सेट्ठिपुत्रों को आनन्दित करना मेरा धर्म है।"—स्पर्श किया वासवदत्ता ने।

मनु रोमांचित हो उठा। कितना मादक और कितना उत्तेजित स्पर्श था, उस तरुण सुन्दरी का।

अपनी कम्पनमयी वाणी पर तनिक आधिपत्य जमाता हुआ मनु बोला—"रात व्यतीत हो रही है गणिके! अपने धर्म का पालन करो!"

"इस सेविका को स्मरण है। प्रारब्धवश जिस दशा में हूँ उसी दशा के धर्म को मैं कर्म से पूर्ण रूप से पालन करने को तैयार हूँ। आज्ञा दीजिये श्रीमन्त!"—वासवदत्ता नत मस्तक हो गई।

"मैं आसव चाहता हूँ भद्रे!"—मनु ने समीप पड़े सुरा की ओर संकेत करके कहा—"एक चषक भर कर दो, कोई मनोहारी नृत्य दिखाओ; ऐसा नृत्य जो मेरे हृदय-कुसुम को विकसित कर दे।"

वासवदत्ता ने मुस्कान के साथ आसव-चषक मनु के कर में थमा दिया। पल भर के लिए मनु के सन्निकट बैठी। उसके तन से मनु के कर का स्पर्श हुआ। मनु की वासना झकझोरित हो गई। हठात् उसने वासवदत्ता को अपनी ओर खींच लिया।

वासवदत्ता भयभीत-सी उसको स्थिर नेत्रों से देखने लगी।

मनु के हृदय में मची हुई घोर अशान्ति से वह भली भाँति परिचित थी। वह अच्छी तरह जानती थी कि यहाँ पर आने वाला प्रत्येक तरुण सर्वप्रथम इसी भाँति प्रेमाभिनय करता है और वासना की तृप्ति के संग उसके दर्शन दुर्लभ हो जाते हैं। अतः अपने को संभालती तथा मनु को सचेत करती हुई वह चेतावनी के स्वर में बोली—"मर्यादा

का उल्लंघन अच्छा नहीं है श्रीमन्त ! मैं नृत्य कर सकती हूँ, केवल नृत्य।"

"नहीं रूपसी !—मनु की विकल आँखों में मनुष्य की दुर्बलता जाग पड़ी—"मैं तुम्हें मुँह माँगा धन दूँगा।"

"एक ही बार,....एक बार में इस पापी पेट की क्षुधा क्या शान्त हो सकती है ?"—वासवदत्ता की वाणी में ज्वाला-सी तपिस थी।

"मैं तुम्हें प्यार करता हूं।"

"धन से सौदा करने वाले प्यार नहीं कर सकते। यदि वे ऐसा कहते हैं तो मिथ्या कहते हैं।........श्रीमन्त ! धन मन पर विजय नहीं कर सकता। उसके लिये कुछ चाहिये ?"

"कुछ क्यों ?......आज्ञा करो भद्रे ! तुम्हारी प्रत्येक अभिलाषा निमिष भर में पूर्ण कर देता हूँ। आज्ञा करो उन्मादिनी !"

मनु की विकलता बढ़ती ही जा रही थी। वासना की घनीभूत छाया बसाये उसके चक्षु नर्तकी से माँग रहे थे—उसका तन, उसका यौवन और उसका रूप-आलिंगन।

"आज्ञा का पालन करेंगे श्रेष्ठवर ?"—

"सन्देह करना तुम्हारा अपराध और मेरा अपमान है।"

"आप मुझे वचन देंगे ?"

"दिया।"

"श्रीमन्त, आप इसी पल यहाँ से चले जाइये। मैं एकान्तवास चाहती हूँ।"—वासवदत्ता ने आज्ञा दी।

मनु के पाँवों के नीचे की धरती खिसक गई। नयन औसतन आकार से और दीर्घ हो उठे। पुतलियाँ नितान्त स्थिर हो गई।

मनु अपने आप ही कह उठा—"कितनी भयानक आज्ञा है !" इस आज्ञा से मनु की भावनाओं पर सांघातिक व्याघात लगा। पीड़ा से तिलमिलाते रुग्ण व्यक्ति की भाँति उसने बोलने के लिये अपनी जिह्वा को खोलना चाहा, पर वासवदत्ता ने अपना बाँया हाथ फैलाकर कहा—"श्रीमन्त वचनाबद्ध हैं आप !"

"हमें अपनी प्रतिज्ञा स्मरण है।"

"मैं भी यही आशा रखती हूँ।"

"इस आशा के दीपक को घोर झंझा में दीप्त रखने का प्रयास करूँगा।"—मनु तुरन्त बाहर चला गया।

वह दो डगर चला ही था कि पुनः लौट कर आया और अपना 'गल-हार' वासवदत्ता को पहना दिया।

रथ पुनः जिस ओर से आया था, उस ओर चला।

राज-पथ पर घोर अन्धेरा था और उस अन्धेरे में अवश मन लिये मनु समुद्र की लहरों की सदृश्य कितने ही संकल्प-विकल्प लिये गृह की ओर प्रस्थान कर रहा था।

× × ×

रथ मनु के द्वार पर रुका।

प्रहरी ने अभिवादन के साथ द्वार खोला।

मनु शंकाकुल प्रविष्ट हुआ।

सारा वातावरण मौन व सौरभ से महक रहा था।

शयन-कक्ष में अभी भी प्रकाश जगमगा रहा था।

मनु उस ओर चल पड़ा। कक्ष के प्रकोष्ठ में गृहलक्ष्मी अशान्ति से चहलकदमी कर रही थी। मनु की पद-चाप सुनकर वह भावातिरेक होकर उसके चरणों में जा गिरी। उसके नयनों से अश्रुस्राव होने लगा। अन्तर में मार्मिक वेदना हो, ऐसा लग रहा था।

गृहलक्ष्मी को अपने दोनों हाथों से उठाते हुए मनु ने पूछा—"क्या बात है कल्याणी ?"

"मैंने पाप कर लिया है मेरे प्रभु !"—अनुनय के साथ गृहलक्ष्मी ने कहा—"पाप भी ऐसा, जो सब से हेय समझा गया है—मनसा।"

"मैं समझा नहीं कल्याणी, स्पष्ट शब्दों में कहो।"—मनु के स्वर में सांत्वना थी।

"मैंने आप पर सन्देह किया था।"

"मेरे पर ?"—विस्मय से पूछा मनु ने।

"हाँ, आपके चरित्र पर।"

"मेरे चरित्र पर, क्यों, किसलिये कल्याणी ?"

"सच कथन पाप का प्रायश्चित माना गया है।" —उसने कुछ रुक कर कहा—"मैंने आपके प्रस्थान करने के पश्चात इस बात का अनुमान लगाया कि आप गणिका के यहाँ गये हैं क्योंकि आप उस पर आसक्त······।"

बीच में ही बात को काटता हुआ मनु संयतता से बोला—"सन्देह सत्य है महिषी ! मैं आज गणिका के यहाँ गया था, नगर की श्रेष्ठ गणिका वासवदत्ता के यहाँ।"

"नाथ !" तड़प उठी गृहलक्ष्मी। उसे रोष आया अपने पति पर, समस्त पुरुष जाति पर। सोचने लगी—कैसे छली हैं ये पुरुष !... प्रवंची, हृदयहीन और पाषाण !

"यह क्यों ?" गृहलक्ष्मी ने प्रकट होकर हठात् पूछा।

"मेरी इच्छा !" हठात् उत्तर दिया मनु ने।

"और मेरा अधिकार ?"

"धार्मिक गठबन्धनों में जकड़ा हुआ है। उसकी परीधि के बाहर उसका कोई अस्तित्व नहीं, कोई गणना नहीं।" मनु रुखाई से बोला।

"पर यह पथ पतनोन्मुखी है।"

"मैं जानता हूँ। मुझे समझाने की कोई आवश्यकता नहीं।" मनु ने रुक कर तुरन्त कहा—"तुम्हें तुम्हारी अत्यधिक लिप्सा विक्षुब्ध कर रही है।......तुम तो गृहलक्ष्मी हो, गृह की शोभा हो, मान-मर्यादा बन कर रहो। पुरुष की पिपासा की ओर भागने का प्रयत्न न करो। थक जरूर जाओगी पर पाओगी कुछ नहीं।" मनु एक दार्शनिक के स्वर में बोला।

"उपदेश ग्राह्य है पर मैं भी अपने अन्तराल के भावों को प्रकट करना अपना पुण्य समझती हूं।" गृहलक्ष्मी और सजग हो गई—"जिसके संग से सत्य, पावनता, करुणा, मौन, विवेक, श्री, संकोच, कीर्ति, क्षमा और सौभाग्य का नाश होता है ऐसी नारी का संग बुद्धि-मानों का काम नहीं।"

"शलभ निष्ठुर लौ की प्रीति से परिचित होकर भी उसकी अंक में अपने प्राण-उत्सर्ग कर देता है, ऐसा क्यों ?"

"अज्ञानतावश !"

"मुझे भी तुम ऐसा ही समझ लो।"

"कैसे समझ लिया जाय ?''''''शलभ और मनुष्य का अन्तर तो दृष्टि ओझल नहीं किया जा सकता। मनुष्य मेधावी होता है। उसे भले-बुरे का ज्ञान होता है।"

"उसकी मेधा नवीनता चाहती है। उसका ज्ञान एक नूतन तृष्णा को अपने में समाये रहता है। वह तृष्णा बावरी होती है।"

"जो प्राणी विषयी-तृष्णा के आधीन है, उसकी रुख पर नाचता है। वह पुरुष मदारी का वानर होता है।"

इस व्यंग ने मनु पर गहरा आघात किया। मनु तीव्र स्वर बोला—"गृहलक्ष्मी! नर और नारी के आवर्तन भिन्न-भिन्न होते हैं। पुरुषों को, विशेषकर आभिजात्य वर्ग के पुरुष को भोग-विलास करने का पूर्ण अधिकार है, बपौती स्वत्व है।···तुम पत्नी हो और पत्नी होकर पति को शिक्षा देने का दुस्साहस करना क्या अपराध नहीं ?"

"हो सकता है ; लेकिन मैं आपकी पत्नी हूँ, सहधर्मिणी हूँ, मित्र हूँ और सच्चा मित्र वही हो सकता है जो अपने मित्र के अवगुणों को दर्पण के समान यथार्थ रूप में बता सके और मेरा···· ?"

"तुम्हारे कथन और उपदेश की कोई आवश्यकता नहीं है।"—झुंझला उठा मनु—"भूल तो मैंने की कि तुमसे सत्य भाषण कर लिया, अन्यथा तुम्हें मैं एक मिथ्या भ्रम में सदैव रख सकता था।"—पश्चाताप कर रहा था मनु।

गृहलक्ष्मी ने थोड़ी देर तक मनु के मुख के भावों को पढ़ा। उसने सोच लिया कि यदि वह मनु की इस बात की ओर कटु सत्य आलोचना-प्रत्यालोचना करेगी तो इसका परिणाम अकल्याणकारी होगा। मनु वणिक है। आभिजात्य वर्ग का लाड़ला बेटा है अतः यह नारी की आत्मा से सदैव परम्परागत से खेलेगा।—अतः उसने परिस्थिति के संग अपने को छोड़ने का निश्चय किया। भविष्य में जो होगा, उसे वह देखेगी, समझेगी।

एक दार्शनिक की भाँति मनु को सम्बोधित करती हुई वह पुनः बोली—"मन ही मन का बोधक होता है, मन ही मन का साधक होता है, मन ही मन का बाधक होता है, मन ही मन का घातक होता है।··· मन को बाँधने का प्रयास कीजिये, उसमें ही कल्याण है। मैं तो आपके चरणों की दासी हूँ, रज हूँ, मेरा क्या··· ?"

वह उठी।

एक बार उसने अपने सद्यःस्नात हिम-धवल प्रभापुँज सम गात को देखा, उत्पल के सदृश्य दीर्घ कजरारे नयनों को निरखा, अतृप्त अधरों पर आशंका की शुष्कता को पहचाना और धीरे से चरण उठाती अपनी सुख-शय्या की ओर बढ़ गई।

मनु एक असन्तोष लिये उसे देखता रहा। अन्तर्ज्वाल में जल रहा था।

प्रेम !

जीवन की महानतम निधि जिसे प्राप्त करके प्राणी सुखी हो जाता है।

तत्वज्ञानियों, सन्तों व अनेकानेक महान् पुरुषों ने प्रेम को सर्वोत्तम स्थान प्रदान किया है—जप, तप और वैराग्य से। सुनती हूँ, जहाँ प्रेम से प्रभु-पुकार होती है, वहाँ ईश्वर को आना ही पड़ता है।

आशावादी प्रेमी कहते हैं—प्रेम में जो तड़पन है, व्यथा है, विकलता है और रोदन है, वे सब प्रगाढ़ प्रीति के भावानुभाव हैं। प्रेम के आँसू वरदान होते हैं।

मनीषियों ने कहा है—प्रेम की स्थिति एक-सी रहती है, उसे प्रतिक्षण अपने प्रिये से मिलने की छटपटाहट होती रहती है। वह सदा अतृप्त ही बना रहता है। प्यारे के सिवा उसे कोई नहीं भाता।

असफल प्रेमी हृदय को धैर्य देने के लिए उपदेश के रूप में प्रेम की व्याख्या करता है—प्रेम सदा ही सहिष्णु और मधुर होता है। प्रेम ईर्ष्या नहीं करता, आत्मश्लाघा नहीं करता, गर्व नहीं करता, दुष्टाचारण नहीं करता, शीघ्र क्रोध नहीं करता, कुछ बुरा नहीं मानता, सदा सुखी रहता है।

राहुल अपनी कविता में कहता है—प्यार की एक भी चिनगारी किसी के हृदय में पड़ जाय, उस हृदय को निहाल समझना चाहिये, पर यह चिनगारी बड़ी निर्दयी होती है। सरलता से उर में सजग नहीं होती। इसे प्रज्वलित करने के लिए कठोर श्रम की आवश्यकता पड़ती है, महान त्याग की अनिवार्यता होती है।

प्रेम शब्द एक है।

व्याख्यायें उतनी जितने मस्तिष्क!

अद्भुत जंजाल!

जटिल समस्या!!

लेकिन…!"—वासवदत्ता ने अपने बिस्तरे पर करवट लेते हुए मन ही मन कहा—"लेकिन मेरा अपना मत है कि प्रेम एक वासना है, अतृप्त वासना…बस।"

इतनी देर तक सोचने के पश्चात् वासवदत्ता अनमनस्क-सी उठी और राजपथ वाले प्रकोष्ठ में आकर खड़ी हो गई।

रजनी विलास के सागर में तैरती हुई नगरी से अवतरित हो रही थी। राजकीय-प्रकाश-स्तम्भ के प्रकाश से पथ आलोकित हो रहा था। उस आलोक में आवागमन करते हुए यात्रियों की आकृतियाँ स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हो रही थी। वासवदत्ता आज आकुलता के साथ किसी की प्रतीक्षा कर रही थी। उसके प्रतीक्षा-रत बावरे नयन देख रहे थे—दूर, बहुत दूर, बिलकुल दूर।

एकाएक उसे अपने दण्डधारी का तीव्र स्वर सुनाई पड़ा—"भद्रजन! यहाँ केवल आभिजात्यवर्ग ही प्रवेश पा सकता है। जन-साधारण के लिए साधारण गणिकायें होती हैं। यह तो नगर की प्रतिष्ठामयी नगरवधू का गृह है।"

"जानता हूँ मैं, लेकिन आभिजात्य-वर्ग की पहचान—सुन्दर रथ और चमकदार वस्त्र तो नहीं है! प्रत्येक प्राणी अपने हृदय की विशालता व उदारता से महान् होता है।

"यहाँ धन का विशेष महत्व है। सम्पत्तिहीन प्राणी का यहाँ सत्कार सम्भव नहीं।"

"सम्पत्ति!"—राहुल दर्प से बोला—"मेरे पास वह सम्पत्ति है, जिसकी समानता तुम्हारे नगर के समस्त सेट्ठिपुत्र और सामन्तगण भी नहीं कर सकते। समझे?"

"दृश्य और श्रव्य में अन्तर होता है!"

"चर्म और कर्म में भी अन्तर होता है!"

"तात्पर्य?"

"काग-नीड़ में पिक शिशु रहने से वह काग नहीं बनता। अल्पमूल्य वस्त्र पहनने से ही मनुष्य की श्रेष्ठता और महत्ता कम नहीं होती!"—क्रोध से वक्र दृष्टि करके राहुल सरोष बोला—"जाओ, अपनी अभिमानिनी स्वामिनी से कहो कि कोई ब्राह्मण-पुत्र तुम से भेंट करना चाहता है।"

प्रहरी भीतर गया।

आगन्तुक विचारमग्न-सा तोरण-द्वार की सीढ़ी पर चहलकदमी कर रहा था। प्रहरी ने आकर अभिवादन के संग विनम्रता से कहा—"श्रीमान्! देवी की आज्ञा है कि आप ससम्मान सम्मुख लाये जायें। ऐसे योग्य व वाक्-पटु युवकों का मैं हार्दिक सम्मान करती हूँ।"

आगन्तुकने अपने अधरोंपर विडम्बनाकी व्यंगात्मक हँसी दौड़ाई—"राजकीय पद्धति का अनुसरण कर रही है गणिके! और क्यों न करे? समय है, समय सर्वस्व कराता है।"

सीढ़ियों को पार करके वह वासवदत्ता के अद्भुत शयनागार में आया।

दोनों की दृष्टि टकरायी।

अल्पकाल के लिए दोनों निश्चल हो गये। एक-दूसरे के सौन्दर्य का रसा-स्वादन करते रहे—मंत्र मुग्ध से।

एक पल, दो पल और तीसरे पल वासवदत्ता के होंठ अनायास ही फड़क उठे—"कितना सुन्दर है ?"

"क्या कहा ?"—तुरन्त पूछा उसने।

"मैंने ? मैंने कुछ नहीं कहा।"

"तो फिर किसने कहा ?"

"मन ने।"

"क्यों ?"

"मोहित होकर।"

"बड़ा चंचल है ?"

"अवश्य !"

"बड़ा रसिक है ?"

"होना ही चाहिए।"

"बड़ा आसक्त है।"

"अवश्य !"

"बड़ा प्यारा है ?"

"क्या कहा ?"—सावधान होती हुई वासवदत्ता बोली।

"जो मेरे मन ने चाहा, मन पर किसी का अधिकार नहीं होता।" —अपनी पीठ को उसकी ओर करते हुए नवागन्तुक तरुण ने कहा। वासवदत्ता उसके चातुर्यपर रीझ गई—युवक अत्यन्त कुशाग्र बुद्धिवाला है।

"तरुण ! आपका शुभ नाम ?"

"जानती नहीं हो क्या तुम ?"

"नहीं ।"—वासवदत्ता ने विनम्रता से कहा और उसे बैठने का संकेत किया—"आप आसन ग्रहण कीजिये ।"

"मेरे विचार से तुम मुझे जानती हो, यदि पहचानने का प्रयास करो तो जान जाओगी कि मैं कौन हूँ ?"—तरुण बैठ गया ।

"पहेलियाँ बुझा रहे हैं, आप ?"

"तुम अपने मन को कष्ट देना नहीं चाहती हो । लोग मुझे कवि राहुल कहते हैं । मैं नगरपति का अपना कवि हूँ । जानती नहीं हो कि नगरपति मेरे गीत सुने बिना चैन से नहीं रहते ।"

वासवदत्ता के कानों को एक बार विश्वास नहीं हुआ । वह अनिमेष दृष्टि से राहुल को देख रही थी । विह्वल-सी होकर बोली—"आज मेरे भाग्य के समस्त द्वार खुल गये । आज ही मैंने आपको स्मरण किया था और आज ही आ गये आप, इसलिए आपकी आयु दीर्घ है और मैं भगवान से यही प्रार्थना करूँगी ।"

"यह प्रार्थना शुभ नहीं । अधिक जीनेवाले अधिक पाप करते हैं ; अतः व्यक्ति को उतना ही जीना चाहिये, जितना वह अच्छे आचरण के साथ जी सके ।"—राहुल के अधरों पर हलका उपहास था ।

वासवदत्ता अभी तक उसे चाह-भरी दृष्टि से देख रही थी । राहुल अपनी चंचल दृष्टि से सज्जित शयनागार को देख रहा था । एकाएक उसने मौनता भंग की—"कल मैंने एक गीत की रचना की थी । गीत का शीर्षक था—'कल्पना की रानी' । कल्पना की रानी का रूप-यौवन

स्वर्गीय था। मैं उस कल्पना को साकार रूप में देखना चाहता था। उस साकार रूप-दर्शन के लिये मैं सर्वत्र स्थानों में घूम आया, पर सिवाय निराशा के कुछ नहीं मिला। अचानक मुझे तुम्हारा ध्यान आया। उस उत्सव का ध्यान आया, जिस उत्सव में तुमने एक सेट्ठि-पुत्र को अपना चाहनेवाला बनाया था। मैं चला आया—सर्वाङ्गिनी सुन्दरी के सौन्दर्य को निरखने। अपनी कल्पना का मूर्त-रूप देखने।"

"फिर आज्ञा दीजिये।"—वासवदत्ता ने ऐसा दृष्टि-संकेत किया कि राहुल रोमांचित हो उठा।

"मेरे समक्ष तुम अपनी सर्वश्रेष्ठ मुद्रा में बैठे जाओ।"

"क्यों?"

"मैं तुम्हारा रूप-दर्शन करना चाहता हूँ।"

"रूप-दर्शन!"—विस्मय से नेत्र विस्फारित किया वासवदत्ता ने और एक उल्लास की अँगड़ाई ले बैठी।

"प्रत्यक्ष-दर्शन से कल्पना में सत्य का भार होता है। मेरे गीतों में निखार आ जायगा, श्रोता सुनकर मंत्र-मुग्ध हो जायँगे। सुन्दरी! यह सम्बल मेरी कविता में प्राणों का संचार कर देगा।"—यह थी राहुल की भावुकता।

"मैं क्या समस्त नगरवासी आपकी प्रतिभा का लोहा मानते हैं। सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् की भावना लिये आपकी प्रत्येक कृति जीवन को नूतन प्रेरणा देती है। मैं प्रायः सुना करती हूँ—आपकी प्रत्येक कृति में चिन्तन रहता है, मनन रहता है और उनके संग संगीत की हृदय-वेधक लय।"

वासवदत्ता यह कहकर राहुल के समीप आकर बैठ गई। राहुल अपनी भूरि-भूरि प्रशंसा सुनकर मानव-दुर्बलता के अधिकार में आ गया! अपनी रचनाओं की स्वयं प्रशंसा करता हुआ बोला—"तुम्हें विदित नहीं होगा कि मेरी कविता 'जीवन-नश्वर' पर श्रमण उपगुप्त ने स्वयं कहा था"—रचना अत्यन्त उत्कृष्ट है। कवि में प्रतिभा के साथ साथ सुन्दर अभिव्यक्ति की भी शक्ति है। जीवन का दर्शन सही रूप में चित्रित करने की क्षमता है। कभी मैं उससे भेंट करूँगा।"

"यह उपगुप्त कौन है?"—वासवदत्ता ने झट से पूछा।

"भगवान बुद्ध के परम स्नेह-पात्र शिष्य! रूपवान, गुणी, त्यागी और वक्तृत्व कला के सम्राट! तुम जानती नहीं हो कि जब वे ओजस्वी वाणी में भाषण देते हैं तो श्रोता अपने आपको विस्मृत करके चुम्बककी सदृश्य उनके पीछे खिंचे चले जाते हैं।"—राहुल शय्या पर कुछ सुख से बैठता हुआ अनवरत कहे ही जा रहा था—"मुझे भी उनका भाषण सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उनकी प्रभावोत्पादक वाणी के समक्ष मेरे गीत शून्य के बराबर हैं।"

"और उनका रूप?"—वासवदत्ताकी जिज्ञासा बढ़ी।

"रूप!...अधिक सुन्दर नहीं, हाँ देखने में भला अवश्य लगता है—राहुल ने नाक-भौं सिकोड़ा जो वासवदत्ता को रुचिकर नहीं लगा। वह उठती हुई मद्धिम स्वर में बोली—"ब्रह्मा का निर्माण-वैचित्र्य देखकर आश्चर्य करना पड़ता है, अस्तु। कविवर! अब मैं आपकी इच्छा पूर्ति करती हूँ। अपनी सर्वश्रेष्ठ-सर्वोत्तम मुद्रा में खड़ी होती हूँ, जी भरकर रूप-दर्शन कर लीजिये।"

वासवदत्ता ने अपने रेशमी झीने आँचल को उरोजों पर एक आवर्तन देकर कटि प्रदेश पर लहराने के लिये छोड़ दिया। कंचुकी को और कसा। कुन्तलों को तनिक अस्त-व्यस्त करके तन कर खड़ी हो गई।

मुद्रा कामोत्तेजक थी।

राहुल देखता रहा—एकटक।

वासवदत्ता मुस्कराती हुई बोली—"कविराज! रूप दर्शन करते-करते मन का पाप न कर बैठना!"

"मेरे विचार इतने निर्बल नहीं है।"—राहुल मुस्करा रहा था।

"वह्नि समक्ष कनक अवश्यमेव गलता है, यह चिरंतन सत्य है।"

"मेरे सिद्धान्त किसी को भी चिरन्तन नहीं मानते।"

"सबसे पृथक हैं आपके सिद्धान्त?"

"विद्वान स्वयं अपने सिद्धान्तों के निर्माता होते हैं।"—राहुल उसे देखता रहा—अब मैं प्रस्थान करना चाहता हूँ। मैंने अपने मन की आशा पूर्ण कर ली।"—राहुल उठने लगा।

"इतनी शीघ्र पूर्ण कर ली, आश्चर्य है!"

"वार्त्तालाप में समय का ज्ञान नहीं रहता। मुझे आये हुए बहुत काल हो गया है।"

"तनिक और ठहरिये। अभी तक आपने मेरे रूप का दर्शन किया है और अब मैं आपके रूप का दर्शन करूँगी।"

"मेरे रूप का!"

"हाँ कविराज!"—वासवदत्ता मधु-चषक लेने के लिये अग्रसर हुई कि परिचारिका ने आकर निवेदन करने के लिये अपने अधरों को खोलना चाहा कि वासवदत्ता ने उसे तुरन्त रोक दिया—"मैं आ रही हूँ।"

वासवदत्ता बाहर गई और आई। राहुल इस नाट्य को नहीं समझ सका। कुछ अनुमान लगाने के प्रयास में था।

बाहर खड़ा था मनु।

वासवदत्ता उसे अन्य कक्ष में बैठाकर राहुल के समीप आई। राहुल उस समय नेत्रोन्मीलन किये बैठा था। वासवदत्ता की पदचाप सुनकर बोलना चाहा कि वासवदत्ता दर्प से बोल उठी—"कविराज! अब आप यहाँ से सहर्ष प्रस्थान कर सकते हैं। मुझे कोई आपत्ति नहीं।"

राहुल ने भेदभरी दृष्टि से वासवदत्ता को देखा और तोरण द्वार की ओर बढ़ गया—एक प्रश्न लिये।

× × ×

मनु और वासवदत्ता का मिलन होते ही आज मनु ने एक नवीन प्रस्ताव रखा—"रूपसी! आज हम जल-विहार करने चलेंगे।"

प्रस्ताव अत्यन्त सुन्दर था। अतः वासवदत्ता ने स्वीकारोक्ति दे दी—"श्रीमन्त, आपकी आज्ञा शिरोधार्य है।"

मनु का अन्तराल वासवदत्ता की स्वीकारोक्ति सुनकर मग्न हो गया। वासवदत्ता का कर स्पर्श करता हुआ बोला—"प्रिय! चलो, अबेर करना अच्छा नहीं है।...आज तुम्हें ही अपनी 'शिवीका' पर चढ़ाकर सरिता-कूल तक ले जाना पड़ेगा।"

"क्यों, आपका रथ कहाँ है ?"

"मेरा सारथी आज ज्वर पीड़ित है और अन्य सारथी मुझे पसन्द नहीं ।"

"कोई बात नहीं, मैं अभी परिचारिका को पुकार कर वाद्य यंत्रवालों को तैयार होने के लिये कहलाती हूँ ।"

"क्यों,...वाद्य यंत्रवालों की क्या आवश्यकता है ?"—किंचित सहमते हुए मनु ने कहा—"हम एकाकी चलेंगे ।"

"एकाकी !"—भय से नेत्र विस्फारित कर दिये वासवदत्ता ने—"मैं एकाकी कैसे चल सकती हूँ ?"

"भय किस बात का ?"—तुमस्वेच्छा से जो चाहो कर सकती हो । तुम्हारे पर किया गया अनाधिकार अपराध है, तुम्हारी इच्छानुकूल मैं कार्य करूँगा, विपरीत नहीं, ऐसा तुम्हें विश्वास रखना चाहिये ।"

"मैं अपनी इच्छानुसार एक कार्य नहीं कर सकती ।"

"वह क्या ?"

"पाणि-ग्रहण ।"

"यह संस्कारों की बात है, न्याय द्वारा निषिद्ध है, तुम नगरवधू हो, गणिका हो, खैर ! जाने दो इस विवाद को ।"—बात को परिवर्तित कर दिया मनु ने—"आज नभ में प्रमोदमयी शीतल शुभ्र चाँदनी छिटक रही है, हमें शीघ्र चलना चाहिये ।"

"लेकिन मैं एकाकी नहीं चल सकती ।"—उसके स्वरमें स्पष्ट अस्वीकृति थी ।

"क्यों रूपसी ! मस्तिष्क पर बल देकर विचार करो कि एकाकीपन में कितना आनन्द रहेगा। निशीथ की नीरवता में लोल-लहरों पर मृदुल लास करती हुई अपनी तरणी जब हौले-हौले चलेगी तो हमारी इच्छायें महान् सुख का अनुभव करेंगी। ...हम होंगे और हमारे हृदयों की मधुर धड़कनों का मीठा संगीत होगा। ...चलोगी न एकाकी ?"

"नहीं, तरणी मँझधार में पहुँच जाए और मैं मधुपान से मदोन्मत्त होकर जल में कूद मरूँ तो...? ....नहीं-नहीं, मैं ऐसी भयानक विपत्ति नहीं उठा सकती, कदापि नहीं उठा सकती, ...मनु मैं एकाकी नहीं चल सकती।"

वासवदत्ता उसके मन के अभिप्राय को छिपाते हुए कहा। वह मनु के हृदय में निहित पतित विचार से परिचित थी। वह भलीभाँति भिज्ञ थी कि मनु उसे एकान्त में ले जाकर परिरंभण करके अपनी वासना की तृप्ति करना चाहता है और उस तृप्ति के पश्चात् वह महा सन्तोग लेकर यहाँ से सदैव के लिये सम्बन्ध-विच्छेद करना चाहता है। यदि उससे सम्बन्ध-विच्छेद हो गया तो उसे उसकी सम्पत्ति से हाथ धोना पड़ेगा। अतः मनु को जहाँ तक हो सके अतृप्त रखा जाय, परिरंभण का उसे अवसर ही न दिया जाय, एक असन्तोष की ज्वाला में उसे जलने दिया जाय।

"बिना संगीत सुन्दर नृत्य संभव नहीं और बिना नृत्य गीत सार्थक नहीं, अतः इन्हें अपने साथ लेना ही पड़ेगा।"—वासवदत्ता ने दृढ़ता के साथ परामर्श दिया।

"मुझे संगीत और नृत्य का मोह नहीं।"

"तो तुम्हें किसका मोह है ?"

"केवल तुम्हारा, अपनी प्रेम-प्रतिमा का।"—कहकर मनु वासवदत्ता की ओर उत्सुकता से निहारने लगा, इस आशा से कि इस प्रकार की घोषणा से वासवदत्ता अनिवार्य रूप से प्रसन्न होगी, लेकिन उसकी मुखाकृति पर किसी प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं हुई। वह पूर्ववत् स्वर में बोली—"तो जल विहार की कोई अनिवार्यता नहीं, इस प्रकोष्ठ के सब द्वार बन्द कर लिए जायें। मैं एकाकी, तुम एकाकी,...बोलो कितना आनन्द रहेगा ?"—मीठी चुटकी ली रूपसी ने।

"तुम समझती क्यों नहीं ?"—मनु झुँझला उठा।

"मैं सब समझती हूं, श्रीमन्त! मुझे समझाने की आवश्यकता नहीं, सच पूछो तो मैं स्वयं ही समझ हूँ।"—वासवदत्ता निहारने लगी। उसके नयन रोषमय के साथ गम्भीर थे।

संसृति पर निविड़ तिमिर छा चुका था। तारों के धुँधले प्रकाश में राजप्रासाद की पताका फहराती दृष्टिगोचर हो रही थी। सारा नगर सुख की निद्रा में मग्न था। शून्यता, घोर शून्यता व्याप्त थी यत्र-तत्र। केवल जग रही थी—वैभव की महारानी अद्वितीय सुन्दरी वासवदत्ता और अतृप्त पिपासित मनु।

वासवदत्ता किसी अज्ञात भावुकता में बही जा रही थी। यही कारण था कि उसके शशि-मुखपर व्यथा की रेखायें छा गईं। नयनों के मोती कपोलों पर छलक पड़ने को हो गये। ओष्ठ अत्यन्त मद्धिम स्वर में फड़क उठे—"नगर समझता है कि वासवदत्ता के पास अतुल सम्पत्ति है जिससे वह अपना जीवन बड़े आनन्द से व्यतीत करती होगी; किन्तु

यदि कोई अन्वेषण करके सत्य का पता लगाये तो उसे यह प्रतीति होगी कि उसका जीवन स्वर्ग नहीं नरक है, स्वतन्त्र नहीं परतन्त्र है, सुख नहीं दुःख है, शीतल धारा नहीं; जलती हुई ज्वाला है। ...उसके तन को आभिजात्यवर्ग-सामन्तवर्ग उसी प्रकार डसता है जैसे अहि प्राणी के तन को।....ये लोग मानव नहीं, वे लोलुप श्वान हैं, जो उसके रूप पर आसक्त होकर पूंछ हिलाते हैं और जैसे ही उन्हें रूप-रूपी रोटी मिल जाती हैं। ये कभी अपनी शक्ल भी नहीं दिखाते।"

वासवदत्ता को मौन देख कर मनु उत्तेजित स्वर में बोला—"मेरे प्रश्न का उत्तर?"

"श्रीमन्त! आज मैं लाचार हूँ। मेरी मनःस्थिति ठीक नहीं, अतः मैं क्षमा-याचना माँगती हूँ।"

"तो मैं कल आऊँ?"—उठते हुए मनु ने पूछा।

"कल नहीं, परसों! थोड़े काल के लिए मैं अपने म्लान मन को शान्ति देना चाहती हूँ। आप मुझे इस अशिष्टता के लिए क्षमा करेंगे।"—सन्निकट थी वासवदत्ता। मनु ने उसके उर में अपने प्रति चिराकर्षण अक्षुण्ण रखनेके तात्पर्यसे एक मूल्यवान आभूषण पहना दिया—"सुन्दरी! सर्वप्रथम तुम अपने मन को मुदित करो। तुम्हारे आनन की वेदना मैं सह नहीं सकता। मैं तुम्हारे अधरों पर मादक मुस्कान देखना चाहता हूँ।"—कहता-कहता मनु प्रकोष्ठ के बाहर हो गया।

वासवदत्ता रो पड़ी—फूट-फूट कर।

गृहलक्ष्मी के शयन-कक्ष में अभी भी दीपक जल रहा था। मनु ने गृह-प्रवेश करते ही सर्व-प्रथम उसी ओर दृष्टिपात किया। शयन-कक्ष में प्रकाश देखकर वह उस ओर चल पड़ा।

"खट्-खट्-खट्।"—मनु ने द्वार खटखटाया।

"कौन है?"

"मैं।"

एक पल में द्वार खुल गया। मनु ने देखा कि गृहलक्ष्मी सत्वरता से उसकी पद-रज अपने मस्तक पर लगाकर इस तरह खड़ी हो गई है जैसे कुछ काल पूर्व भयभीत हुई हो; क्योंकि उसके गोरे मुख पर स्वेद-कण उभरे हुए थे।

मनु स्वेदकणों की ओर संकेत करके बोला—"गृहिणी! आज यह आकुलता कैसी?"

"नाथ! आज मुझे एकान्त में भय लग रहा था।"

"भय क्यों लग रहा था?"

"यह मैं भी नहीं जानती, पर भय अवश्य लग रहा था।"—वह कुछ काल मौन रहकर फिर बोली—"नाथ! आप मुझे एकाकी तजकर न जाया करें।"

"नहीं जाऊँगा, अब मैं तुम्हें छोड़कर कहीं भी नहीं जाऊँगा।"

"हाँ नाथ, आज मुझे सिंह का यह चित्र भी भयभीत कर रहा था।"—उसका संकेत एक चित्र की ओर था।

"जब भय मस्तिष्क पर छा जाता है तो ऐसी ही अनुभूति होती है। लेकिन अब आकुल होने की आवश्यकता नहीं है, आओ, हम दोनों

विश्राम करें।"—गृहलक्ष्मी का कोमल कर मनु ने अपने हस्त में ले लिया और दोनों एक ही संग शय्या पर आसीन हो गये।

मनु ने मादक कटाक्ष करके गृहलक्ष्मी से कहा—"आज तुम्हारा सौन्दर्य शृङ्गार के कारण अद्भुत छटा पा रहा है।"

"सौन्दर्य नहीं, आज आपके ये लोचन मेरे रूप को प्रेम की दृष्टि से देख रहे हैं। प्रेम सौन्दर्य को सत्य की भाँति प्यार करता है।"—गृहलक्ष्मी मनु के तनिक निकट आई।

मनु के तन से गृहलक्ष्मी के तन का स्पर्श हुआ। मनु रोमांचित हो उठा।

अतृप्त आकुलता के वशीभूत होने के कारण वह सत्वरता से बोला—"मैंने तुम्हारे हृदय-कमल पर अनैतिक प्रहार किया है, उसके लिए तुम मुझे क्षमा करोगी?"

"भारतीय ललनायें पति को क्षमा नहीं करतीं। यदि वे अपने पथ-विस्मृत पति को पथ निर्देश करने में समर्थ हो सकती हैं, तो अपने को धन्य मानती हैं।"

गृहलक्ष्मी के शब्दों में शालीनता थी। इधर मनुका काम उत्तेजित हो रहा था। वासवदत्ता द्वारा दो बार ठुकराए जाने के पश्चात् उसका प्रत्येक आवेग रति-विहार करना चाहता था। काम की असन्तुष्टि उसे वाचाल कर रही थी। उसने कृत्रिम नाटकीयता से, केवल अपनी तृप्ति के लिए, अत्यन्त प्रेम का प्रदर्शन किया। उसने गृहलक्ष्मी को अपने अंक में भर लिया। गृहलक्ष्मी निर्विरोध रही, जो मनु को अच्छा नहीं लगा। वह चाहता था कि वह भी वासवदत्ता की भाँति अभिनय करे, प्रेम-नाट्य

करे, रोक-थाम करे, कुछ रोष का तो कुछ जोष का प्रदर्शन करे ; पर ऐसा करने में गृहलक्ष्मी सर्वथा असमर्थ रही।

उसने नेत्रोन्मीलन कर लिये। मनु का मादक स्पर्श पाकर गृहलक्ष्मी उत्तेजित हो उठी। मनु वासना के मद में इतना चूर हो गया था कि उसे वस्तुस्थिति का ज्ञान तक नहीं रहा। आत्म-समर्पण का महान् दान लेते हुए उसने गृहलक्ष्मी को मधुरता के साथ कहा—"वासवदत्ता! जीवन की यह साध आज तुमने पूर्ण कर दी, तुम कितनी अच्छी हो, वासवदत्ता!"

मनु के बाहुपाश से उन्मुक्त होती हुई गृहलक्ष्मी तड़प कर बोली—"मैं गणिका नहीं, आपकी पत्नी हूँ।"

मनु का स्वप्न भंग हो गया..........।

× × ×

नगरपति की ओर से प्रदत्त राहुल का अपना भव्य कलात्मक गृह था, जिसके चारों ओर एक रमणीय उपवन था। उपवन के परकोटे की प्राचीरों पर मंजुल लतिकाएँ छिटक रही थीं। भाँति-भाँति के पुष्प उपवन में विकसित थे, जिससे समीर सौरभमयी हो रही थी।

राहुल इस समय हँसरूपिणी पीठिका पर सुख से बैठा एक नई रचना लिखने में तन्मय था। उसके चतुर्दिक प्रकृति की जो अनुपम शोभा थी, वह उसे प्रेरणा दे रही थी।

वह लिख रहा था—

"वास्तविक विजयी कौन है?"

"जो शक्ति से विजयी होता है।"

"नहीं, विजयी वही है जो अपनी आत्मा पर विजय प्राप्त कर ले। आत्मा पर विजय प्राप्त करने वाला ही महान् है। दूसरों पर विजय करने वाला मूलतः अपनी पराजय करा रहा है। क्योंकि वीर से वीर मनुष्य भी अपनी इच्छाओं के समक्ष पराजय हो जाता है और प्रत्येक नवीन विजयी नूतन बन्धनों में आवृत होता रहता है। अतः यह निर्विवाद सत्य है कि वास्तविक विजयी वही है जिसने अपने को जीत लिया है।"

वह इतना लिख ही पाया था कि उसके तोरण-द्वार से रथ के रुकने की ध्वनि आई। राहुल ने उठकर देखा—बाहर वासवदत्ता का रथ खड़ा है और वासवदत्ता उसकी प्रतीक्षा में द्वार की ओर देख रही है।

राहुल सत्वरता से रथ की ओर लपका। वासवदत्ता को सम्बोधित करता हुआ बोला—"सुमुखि! आज पथ विस्मृत हो गई हो क्या?"

"नहीं कविवर! इधर से जा रही थी, सोचा कविराज के दर्शन करती चलूँ।"—मादक पराग से वासवदत्ता के अधर भींगे थे—"आज्ञा है दर्शन की।"

"क्यों नहीं?"

"भय है कि कहीं उस दिन की भाँति आप भाषण देना प्रारम्भ न कर दें। उस दिन तो आपने ऐसा क्षुद्र रूप बना रखा था कि...।"

"कवि हूँ न, आधे बावले तो होते ही हैं, आओ।"—राहुल उसकी ओर बढ़ा।

वासवदत्ता ने अपना हाथ राहुल की ओर बढ़ाया—"थोड़ा सम्बल दो।"

राहुल ने वासवदत्ता का हाथ पकड़ कर रथ से उतार लिया। वासवदत्ता उसके स्पर्श से रोमांचित हो गई। कितना कोमल कर था राहुल का। सोचकर वासवदत्ता ने अपने हाथ से राहुल के हाथ को दबा दिया। राहुल को इस क्रिया का परिज्ञान था ही। अपने हाथ को उसने मुक्त किया—"चलो भीतर, तुम उपवन का अवलोकन करो तब तक मैं आतिथ्य सत्कार के लिये सेवक को आज्ञा देता हूँ।"

राहुल चला गया। चलते-चलते उसने ऐसा कटाक्ष किया कि वासवदत्ता के हृदय में निमेष छा गया, हलचल मच गई, उथल-पुथल होने लगी। रह-रह उसके विचारों में एक प्रश्न खड़ा होता था"—जब मैंने राहुल का हाथ दबाया तो उसने विरोध क्यों नहीं किया? तो उसे मेरा प्रणय स्वीकार है?...अस्वीकार कर भी कैसे सकता? नारी का सौन्दर्य पुरुष का पराभव है। नगर का ऐसा कौन व्यक्ति है जो मुझ पर अपना सर्वस्व अर्पण करने को तत्पर न हो। मेरी एक चितवन महान क्रान्ति की द्योतक है।"—सोचते-सोचते वासवदत्ता के वासनामय नेत्रों में अहंकार टपकने लगा। वह जहाँ खड़ी थी, वहीं खड़ी रही—अटल।

"वासवदत्ता!"—राहुल ने पुकारा।

वासवदत्ता ने चौंक कर इस तरह राहुल की ओर देखा जैसे वह किसी मोह निद्रा से जगी हो—"क्यों कविराज?"

"भोजन के पूर्व कोई आज्ञा?"

"पूर्ण करेंगे आप?"

"हाँ, वासवदत्ता !"—राहुल के शब्दों में अनुकम्पा थी—"गृह पर आये अतिथि के स्वागत के लिये राहुल का सर्वस्व तैयार है।"—और वासवदत्ता से राहुल की आँखें टकरा गईं। एक पल, दो पल, तीन पल।—"ओह ! क्षमा करना वासवदत्ता, मन में आज न जाने इतना भीषण संघर्ष क्यों हो रहा है ?"

राहुल की मनस्थिति तारुण्य के आवेश के कारण संतुलित नहीं रह पा रही थी। एकाकी नर और नारी के होने पर जो दुर्बलतायें जाग्रत हो सकती है, वे ही उसे दुर्बल बना रही थी। उसकी मनस्थिति का ज्ञान वासवदत्ता को हो गया। उसने आगे बढ़कर राहुल का हाथ पकड़ लिया—"कविराज ! तुम ने किसी से प्रेम किया है, सच-सच बताना ?"—उसके स्वर में अगाध अपनत्व था।

"प्रेम ?...किया है।"

"किससे ?"

"अपनी कविता से ?"

"कविता से आत्मतुष्टि नहीं होती।"—वासवदत्ता राहुल से चिपक कर बैठ गई। राहुल की दृष्टि उसके मुख की ओर थी। वासवदत्ता की आँखों में सौंदर्य किलोलें मार रहा था। अद्‌भुत सुषमा थी—उसके आनन पर।

"तुष्टि मन का आवेग है और जब मनुष्य मन पर आधिपत्य कर लेता है तब सन्तोष उसके अङ्ग-प्रत्यंग में समा जाता है।"

"मिथ्या है कवि ! तुम अपनी आत्मा का हनन कर रहे हो, क्योंकि अनुराग बिना विराग नहीं।"—उत्तर अकाट्य था।

राहुल वासवदत्ता को देखने लगा—"तुम दर्शन की गुत्थियों में अपने आपको मत उलझाया करो वासवदत्ता। तुम्हारा जीवन एक चंचल धारा है, उसमें गंभीर गति की आवश्यकता नहीं।"

"मैं तो वही कहती हूँ जो सत्य है और जो सत्य है, वही नित्य है। अतः कवि! एक बार, एक पल के लिये तुम नारी-संसर्ग करो, उससे प्रेम करो, सच कहती हूँ कि तुम निहाल हो जाओगे।"

"वासवदत्ता!"—राहुल चीख पड़ा। नारी की यह भयानक नग्नता उसे पसन्द नहीं आई—"तुम मेरे जीवन का महाव्रत भंग करना चाहती हो। काम, क्रोध, मोह और माया के चक्र में पड़कर मैं अपनी शान्ति को नहीं त्याग सकता। मेरे जीवन की श्रेष्ठ उपासना है—शान्ति।"

"और शान्ति का दूसरा नाम है—जीवित-मृत्यु, अकर्मण्यता, आत्मा का शोषण।...जानते हो कवि? नारी और नर का सम्बन्ध जन्म-जन्मान्तरों से है और भविष्य में भी रहेगा। जो तुम नारी के प्रति विरक्ति का प्रदर्शन कर रहे हो, वही तो वास्तविक अनुरक्ति है। अपने आपको भ्रम में रखकर तुम अपने मन के विचारों का हनन कर सकते हो। दैहिक पाप भले ही न करो, मनसा पाप तुम अवश्य करोगे, निस्सन्देह करोगे।"

"मैं इन दोनों पापों से वंचित रहूँगा।"—राहुल दृढ़ था।

"असम्भव! वासना प्रकृति का वह ज्वालामुखी है जो जीवन में परिस्थितियों वश अवश्य ही अंगारे उगलता है।"—वासवदत्ता ने राहुल को अंगीकार कर लिया। राहुल चित्रवत्-सा उसे देख रहा था। राहुल को निर्विरोध देखकर वासवदत्ता के मादक अधर राहुल के अधर-

आसव का पान करने के लिये झुके ही थे कि राहुल ने अपने आपको मुक्त किया—"वासवदत्ता! मैंने अपने जीवन के सुख-दुःख, उत्थान-पतन, जीवन-मरण और जरा-रोग देख लिये हैं, अब पुनः मुझे इस पतनोन्मुखी-पथ पर क्यों ढकेलती हो?"

"क्योंकि मैं तुम पर आसक्त हूं, तुम से प्रेम करती हूं।"

"लेकिन मैं....।"

"तुम! तुम भी मुझ से प्यार करते हो, विश्वास न हो तो अपने अचेतन मन से पूछ लो, अन्तरात्मा से प्रश्न कर लो, सही उत्तर मिल जायेगा।"—वासवदत्ता ने तुरन्त अपना मुँह दूसरी ओर घुमा लिया।

राहुल एक शिष्य की भाँति जो अपने गुरु की आज्ञा का पालन करता है, ठीक उसी भाँति अपने मन से पूछा। मन ने कहा—"तुम इससे प्यार करते हो, स्वर्ग की अप्सरा सी अलौकिक सौन्दर्यमयी युवती से कौन प्यार नहीं करता? तुम प्यार करते हो, तुम्हारी आत्मा का इससे अनुराग है, तुम्हारी आँखें इसके दर्शन से तृप्त होती है।

"नहीं वासवदत्ता! मैं तुमसे प्यार नहीं करता, तुम झूठ बोल रही हो। मैं प्यार करता हूँ तो अपनी कविता से, अपने हृदय के संकल्पों-विकल्पों से।"—राहुल ने हृद-उद्वेगों का मार्मिक शोषण कर दिया।

यह सुन कर वासवदत्ता को रोष आ गया। नयनों में अंगारे से दहकने लगे। भर्त्सना के संग बोली—"तुम भयानक पाप कर रहे कवि! अपनी आत्मा से छल करना सब से बड़ा पाप है। हृदय की भावना का शोषण करके तुम शान्ति नहीं पा सकते।"

"शायद अब मैं शान्ति से नहीं रह सकूंगा वासवदत्ता। तुमने मेरे विचारों में एक घोर कोलाहल मचा दिया है। अब मैं शान्ति से नहीं रह सकूंगा ; क्योंकि......?"

"तुम अपने आप को संभालने में असमर्थ हो। राहुल! एक आत्मा का दूसरी आत्मा से लगाव होता है। इसे ही तो प्यार कहते हैं। मेरी पद-रज पाकर मेरे चाहनेवाले धन्य हो जाते हैं और एक तुम हो— निष्ठुर, निर्दयी, निर्मम!"

"मैं चाह कर भी ऐसा नहीं करूँगा क्योंकि मेरी भावनाएँ वचनाबद्ध है। आज से पाँच साल पूर्व मैंने एक रूपवती युवती से प्रेम किया था। विधि-विडम्बना कहो या भाग्य का चक्र कि वह अकाल ही महाकाल की ओर महाप्रस्थान कर गई। उसने मुझ से वचन लिया था—'तुम अब किसी से प्रेम नहीं करोगे, प्रेम करोगे तो केवल अपनी कविता से'।"

मैंने अश्रुपूर्ण नेत्रों से अपनी मरणोन्मुखी प्रेमिका की ओर देखा— "ऐसा क्यों देवी?"

"तुम मुझे अपनी स्मृति से ओझल कर दोगे इसलिये मेरी स्मृति तभी ही अमर रह सकती है जब तुम एक अतृप्तता में जलते रहो, सिसकते रहो।"

"तो तुम तृप्ति नहीं चाहते?"—वासवदत्ता ने पूछा।

"मेरी तृप्ति ही मेरी कविता का पराभव है। जो विकलता, जो व्यथा और जो तड़पन मेरी रचनाओं में देख रही हो, वह मेरी आन्तरिक अतृप्तता है और उस अतृप्तता को मैं चिर रखना चाहता हूँ।"

"तुम अपनी प्रेयसि का प्रतिबिम्ब मुझ में नहीं देख सकते ?"—नवीन सुझाव था।

"तुम केवल सुन्दर हो पर मेरी कविता सुन्दर के साथ-साथ रसात्मक भी है।"

राहुल के यौवन पर आसक्त वासवदत्ता अपनी इस पराजय से भुजंगिनी की भाँति फुत्कार उठी—"इतना अपमान मत करो कवि! परिताप में अपने आपको मत जलाओ। मेरा रूप सुधा है। पी लोगे तो एक सुखद अमरता की प्राप्ति कर लोगे।......और यदि नारी के प्यार को ठुकरा दिया तो वह प्रतिशोध लेने के लिए पागल हो जायेगी।"—वासवदत्ता ने एक चुनौती दी। राहुल ने धैर्य से कहा—"प्यार और प्रतिशोध दो भिन्न बातें हैं। जहाँ प्यार है वहाँ प्रतिशोध नहीं, जहाँ प्रतिशोध है वहाँ प्यार नहीं। इन दोनों का एक साथ होना कुछ अन-होनी-सा लगता है। तुम बहक रही हो, संभल के चलने का स्वभाव डालो, नहीं तो जीवन के बीहड़ पथ पर शीघ्र ही श्रान्त हो जाओगी।"—राहुल की आँखें चमक उठीं। उनमें एक अदम्य साहस झलक उठा। वह भीतर की ओर चलने लगा।

वासवदत्ता का दर्प चीत्कार कर उठा। उसने राहुल को रोका—"तुमने मुझे बहुत सताया है। बड़े निष्ठुर हो, पाषाण हो, अब मुझे सुरा चाहिये। मैं अपने मन की थकान मिटाना चाहती हूँ।"

राहुल ने तुरन्त उसे सुरा का प्याला थमा दिया।

वासवदत्ता ने उसे अपने अधरों से लगा कर कहा—

"तुम मुझे अंगीकार करोगे या नहीं ?"

"नहीं।"—राहुल ने कहा।

"रथ तैयार करा दो, अब मैं प्रस्थान करना चाहती हूँ।"—उसने सुरा को हलक से उतार लिया।

राहुल द्वार की ओर चला।

वासवदत्ता उसे घृणा से देख रही थी। प्रतिशोध लेने के भाव उसकी आँखों में नाच रहे थे।

× × ×

अपमान की ज्वाला में दग्ध आज वासवदत्ता ने शृंगार तक नहीं किया।

वह बेसुध सी पड़ी रही। न निशा के आने का ज्ञान और न प्रभात के जाने का ध्यान! बस, विचारों में उलझी वह सुखद-शय्या पर पड़ी थी।

केवल क्रोध, केवल तिलमिलाना, केवल अपने आपको अस्पष्ट भाषा में कहना; क्या कहना इससे स्वयं अज्ञान।

उसकी जलती हुई आँखें और फड़कते हुए अधर बता रहे थे कि वासवदत्ता अपनी अन्तर्ज्वाला से राहुल को भस्म करना चाहती है जिसने उसके सौन्दर्य का तिरस्कार किया, उसके यौवन की उपेक्षा की।

कभी-कभी रोष के संघर्ष के केन्द्र उन मतवाले नयनों में दो मोती अनायास छलक पड़ते थे। राहुल की इस उपेक्षा ने उसके विचारों में क्रान्ति सी मचा दी थी। उसे यह सोचने के लिए विवश कर दिया था—"सृष्टि के रंगमंच पर सौन्दर्य तृप्ति नहीं, विजय नहीं। यदि सौन्दर्य विजयी होता तो उस दंभी राहुल के हृदय में वह उस विकल विचि की

सर्जना कर देता जो अपनी तृप्ति के लिये जल-विहीन मीन की भाँति तड़प उठती, आकुल हो जाती किन्तु राहुल ने अपने मन की उठती हुई विपुल वासना का हनन करके अपनी दुर्बलता पर जय पाई।......ऐसा क्यों ? यदि सौन्दर्य पुरुष का पराभव है तो फिर यह उद्भव कैसा ?"—वासवदत्ता अपने आप से ऐसा प्रश्न कर बैठी—"ऐसा क्यों वासवदत्ता ? क्या राहुल अपने मन के सकल विकारों का दमन करके महान् बन गया है ?.........महान् बनना इतना सहज नहीं। हाँ ! इतना अवश्य है कि इस वसुमति पर वही एक उपमा-विहीन व्यक्ति है जिसकी वाणी पर वाग्देवी विराजी हुई है। जब वह अपने सुरीले कंठसे कविता पाठ करता है तो श्रोता विमुग्ध से, विमोहित से निस्पन्द बैठे रहते हैं। और मैं...?

मैं तो अपनी समस्त अनुभूतियों से शून्य होकर चकोरी सहृदय अनिमेष दृष्टि किये बैठी रहती हूँ जैसे राहुल अपनी वाणी द्वारा सुधा वृष्टि कर रहा हो और मैं उसका पान कर रही हूँ।"

वासवदत्ता के विचार उसके मस्तिष्क में ठीक इस भाँति उठ रहे थे जैसे उदधि में लहरें। यदि तत्क्षण दीप-वर्तिका लय होने को न होती तो आन्तरिक संघर्ष में गतिहीन उसका तन तनिक भी कम्पन नहीं करता।

वह वहीं बैठी रहती, बैठी ही रहती तब तक जब तक कोई आकर उसकी एकाग्रिता को भंग नहीं करता। वह उठी। दीपक के समीप गई। वृतिका को ठीक किया और पुनः पूर्ववत् मुद्रा में गंभीर होकर बैठ गई—"राहुल गुप्त रूप से अवश्य किसी से प्यार करता होगा ? उसके पास रूप है, गुण है, यौवन है, विद्या है, नगरपति द्वारा प्राप्त प्रतिष्ठा है, फिर क्या उसके प्रेयसि नहीं होगी ? प्रेयसि ! कोई मुझसे ही सुन्दर

प्रेयसि होगी उसकी ।"—वासवदत्ता सौतिया डाह में जल उठी। जलकर निमिष भर के लिये जड़वत हो गई। एकाएक वह जोर का अट्टहास कर उठी—"इस अपमान का प्रतिशोध केवल प्रतिशोध लेना है। मैं प्रतिशोध लूँगी। प्रतिशोध! केवल प्रतिशोध !!"

शब्द उसके मस्तिष्क में प्रतिध्वनि से ध्वनित हो उठे।

समस्या को समाधान मिल गया।

यज्ञ को आहुति मिल गई।

विस्फोट को बलिदान मिल गया।

स्थिर बैठी हुई वासवदत्ता चंचला-सी द्रुतगति से द्वार पर गई। पुकारा—"कोई है ?"

"आज्ञा।"—परिचारिका ने आकर कहा।

"प्रहरी से जाकर कहो कि वह मनु को इसी पल यहाँ बुला लाये। उन्हें निवेदन करे कि आपकी प्रिये आपके बिना आकुल है।"

परिचारिका भेदभरी दृष्टि से अपनी स्वामिनी को देख कर बाहर चली गई।

और वासवदत्ता के नयन उस वीथि की ओर जम गये जिस ओर से मनु का रथ आने वाला था।

राका का तिमिरांचल को भास्कर के प्रकाश ने विदीर्ण कर दिया।

मनु प्रातःकाल के नित्य-क्रम से निवृत्त होकर गृहलक्ष्मी से गृहस्थ-धर्म पर वार्तालाप कर रहा था कि वासवदत्ता के भृत्य ने आकर कहा—"श्रीमन्त! देवी वासवदत्ता ने आपको इसी पल स्मरण किया!"

"मुझे!"—आह्लाद मनु के अधरों पर चमक उठा।

"हाँ! आपको ही।"

"अहोभाग्य !"—मनु मन-ही-मन कह उठा—"आज वासवदत्ता ने मुझे स्मरण किया है ! क्या सूरज पूर्व की अपेक्षा पश्चिम में उदय हुआ है !

अपनी सकल भावनाओं का शोषण करके वह प्रकट रूप से बोला—"प्रहरी ! तुम जाओ, हम अभी आ रहे हैं !"

प्रहरी अभिवादन करके चला।

इधर प्रहरी गृह से बाहर निकला, उधर गृहलक्ष्मी ने मनु को अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण दिलाते हुए कहा—"आपने कहा था न कि मैं तुम्हें एकाकी नहीं छोड़ूंगा, फिर यह जाने का कैसा अभिनय !"

"यह अभिनय आत्मिक नहीं है, कायिक है, इसलिये क्षणिक है। तुम्हें तनिक भी भय नहीं करना चाहिये।"—मनु ने ऐसे ढंग से कहा जैसे यह बात अत्यन्त अमहत्वपूर्ण है।

"भय करना अथवा न करना मेरे बस का नहीं; किन्तु आप सत्य का जो व्यतिक्रम करते जा रहे हैं, उसका परिणाम जीवन में पावस नहीं, पतझार अवश्य ला सकता है।"

ईषत मुस्कान के साथ मनु ने गृहलक्ष्मी का कर अपने हाथों में ले लिया। जैसे यह पुरुष इस नारी को केवल बातों से फुसला कर अपने चतुर्दिक अपनी तृप्ति के साधन मात्र के लिये एक चिरन्तन परिक्रमा निकलाना चाहता है। अपमान की घिनौनी प्रवृति से आहत होकर मनु आये तो इसे पति-परमेश्वर की महत्ता का भान कराके उसके मधुर आँचल में शान्ति पाये। दो जून के भोजन के बदले इसके द्वारा अपने शिथिल गात को सहलवाये। बस इन्हीं स्वार्थों को जीवित रखने हेतु मनु उसके ठोड्डी को पकड़ कर बोला—"तुम पत्नी हो न, अतः तुम्हें

पति की प्रत्येक गति-विधि में सन्देह का आभास होता है। पर सत्य कुछ और ही है ! तुम तो यह जानती ही हो कि वासवदत्ता नर्तकी है और एक नर्तकी के समीप एक सेट्ठिपुत्र एक ही उद्देश्य से जा सकता है, वह है नृत्यावलोकन। वह मेरा मनोरंजन करती है और मैं उसका पारितोषिक सम्पत्ति देता हूँ।"

बात व्यवसायी थी। उसे अस्वीकार करना अश्रेयस्कर था। मनु क्या जितने भी उस वर्ग के सेट्ठिपुत्र थे—वे वैभव विलास के वारिधी में नारी की भावनाओं से क्रीड़ा करते थे।

गृहलक्ष्मी ने प्रतिरोध करना उचित नहीं समझा। प्रतिरोध का परिणाम उसके समक्ष कई बार नम्र होकर आया था। उस नम्रता में मनु की कृपणता चीखें मारा करती थीं और वे चीखें रात के एकान्त में प्रेम की किल्लोलें बन जाती थीं। अतः हृदय के सत्य को हृदय में अदृश्य करती हुई, भव्य प्रदर्शन के साथ वह मनु का आलिंगन कर बैठी। उस आलिंगन की कृत्रिम आत्मीयता नेत्रों में सजलता के रूप प्रकट हुई—"प्राणनाथ ! नेत्र देखकर तृप्त नहीं होते, कर्ण सुनते नहीं अघाते, अतएव इन दोनों के पीछे मदान्ध बनना नीति-विरुद्ध है और वासनाओं के संकेत पर धावित होने वाले नर अपने आत्मा-चैतन्य पर कालिमा का आवरण डाल लेते हैं।"

"एक प्रश्न पूछूँ तुम्हें ?"—मनु ने गंभीरता से पूछा।

"......."। संकेत में 'हाँ' का उत्तर दिया गृहलक्ष्मी ने।

"अरण्य में घोर यातना भोगनेवाला, पल्लव तथा फल फूल पर जीवन निर्वाह करनेवाला तपस्वी भी जब नारी का मोहिनीरूप देखता है, तो

पथभ्रष्ट हो जाता है, तब घी-दूध और वैभव के प्रसाधनों से सम्पन्न-आवृत नर अपने उद्दाम को कैसे थाम सकता है ?"

"इसका तात्पर्य यह स्पष्ट हुआ कि उसका पतन अवश्यमेव है ?"

गृहलक्ष्मी के उत्तर ने मनु को स्तंभित कर दिया। कुछ अस्पष्ट विचार प्रकट करने लगा वह—"मनुष्य आत्म-अभिलाषा का हनन करके आनन्दित नहीं रह सकता। तृष्णा का शोषण उर में अनल का संचार करता है और वह अनल हौले-हौले एक दिन उल्कापात का रूप धारण करके अनिष्ट की संभावना बन जाती है। इसलिये तृष्णा की तृप्ति ही इसका विकारहीन समाधान है।"

गृहलक्ष्मी एक विदुषी सी दार्शनिकता के स्वर में बोली—"तृष्णा की समाप्ति तृष्णा का उपाय नहीं ; एक तृष्णा की समाप्ति सहस्र तृष्णाओं को जन्म देती है। निस्पृह बनकर आप जब तृष्णा की व्याख्या करेंगे तो आप तृष्णा के अन्त में सर्वनाश की शक्ति पायेंगे। उसमें तारण की शक्ति और मुक्ति की भक्ति कहाँ है ?"—अन्तिम शब्द कहते-कहते गृहलक्ष्मी के चेहरे पर रोष की क्षीण रेखायें उभर आईं।

मनु ने उन रेखाओं को दृष्टि ओझल किया—"सृष्टि के प्राँगण में प्रत्येक प्राणी त्यागी, तपस्वी और वैरागी नहीं होता......।"—कहते-कहते मनु को अबेर होने का ध्यान आया कि उसके सन्निकट आकर अत्यन्त कोमलता से बोला—"गृहलक्ष्मी।"

"जी।"

"वास्तव में तुम विलक्षणा हो, अत्यन्त चातुरी से तुमने मुझे इतने काल तक बातों से बाँध रखा, मुझे वासवदत्ता के ध्यान से विमुख रखा,

अतः मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ । जाओ, अब अपने कार्य में संलग्न हो जाओ । मैं प्रस्थान करता हूँ ।"

मनु उठा कि गृहलक्ष्मी ने एक कटाक्ष किया—"शीघ्र आगमन की चिंता करते रहियेगा ?"

"जिस पाँव जा रहा हूँ, उसी पाँव लौट आऊगा ।"

बाहर सज्जित रथ खड़ा था । मनु उस पर आसीन होकर चला ।

रथ चलते ही गृहलक्ष्मी वातायन से उस पथ की ओर निहारने लगी, जिस पथ से मनु जा रहा था ।

वासवदत्ता अभी भी उस वीथि की ओर निहार रही थी, जिस वीथि से मनु का रथ आ रहा था ।

मनु के रथ को देखते ही वासवदत्ता अपनी सुध-बुध भूलकर इस तरह शय्या पर पड़ गई जैसे आज उसे हार्दिक सम्वेदना हो रही हो ।

नेत्रों से लोर की धार उसके अधरों के छोर को छूती अंगिया में विलीन हो रही थीं । वस्त्र अस्त व्यस्त थे । कुन्तल स्नेहहीन और शृङ्गारहीन थे ।

मनु ने ज्योंही अलिन्द में प्रवेश किया, त्योंही वासवदत्ता उसे बिना देखे पेट के बल सो गई । उन्मत्त शलभ, जिस प्रकार बुझती लौ को देखकर चुम्बन के लिए आतुरता से झपटता है, ठीक उसी प्रकार मनु ने लपक कर अपने दोनों हाथों से वासवदत्ता के कन्धे पकड़ लिए—"रूपसी ! क्या बात है ?"

"...........।"—वासवदत्ता पूर्ववत् मौन रही ।

"तुम बोलती क्यों नहीं ?"—झकझोर दिया मनु ने ।

"...........।"—निर्विरोध रही वासवदत्ता ।

"तुम कुछ बोलोगी या....?"—मनु ने वासवदत्ता को बल से उठा कर अपने सम्मुख किया। उसका चेहरा अश्रुस्राव से भींग गया था। कपोलों पर रक्ताभ उभर आई थी। मनु के चेहरे पर भी ग्लानि के संग रोष थिरक उठा—"कुछ बताओगी या मैं....?"

"मनु!"

"बोलो न?"

"भय लगता है कि कहीं तुम मेरी आशा पर तुषारपात न कर दो?"

"मनु तुम्हारी आशा को पूर्ण करना सौभाग्य समझेगा।...धरती की वस्तु उसके लिए कोई असाध्य नहीं, बोलो तुम क्या चाहती हो?"

"मैं चाहती हूँ तुम्हें,....केवल तुम्हें!"

"मुझे?"—मनु क्या, मनु का रोम-रोम बोल उठा।

"तुम्हें, हाँ मनु, केवल तुम्हें!...मैं उस दिन की धृष्टता के लिए तुमसे क्षमा-याचना माँगती हूँ।"—इतना कह वासवदत्ता ने मनु के कोमल कर का एक क्षीण चुम्बन ले लिया। मनु निहाल हो गया। मन में प्रश्न उठा—"यह स्वप्न है या सत्य?....यह स्वप्न है या सत्य?"

"हाँ, इन दिनों मुझे तुम्हारे बिना कोई भी तनिक भी रुचिकर नहीं लगता। ....न जाने क्यों?"—वासवदत्ता की दृष्टि वक्र थी।

"कदाचित् तुम्हें हमसे प्रेम...?"

"हाँ मनु, मैं भी यही प्रतीति करती हूँ कि मुझे तुमसे प्रेम हो गया है,...सच्चा प्रेम।"

"वासवदत्ता! मैंने सुना था कि सौन्दर्य का मूल्यांकन करनेवाली यह नर्तकी हृदय का मूल्यांकन कैसे करती है, यह मैंने आज ही जाना?

इसके पूर्व मैं इतना जानता था कि धन को धर्म, छल को लक्ष्य समझने वाली नारी हाट की शोभा हो सकती है, मन्दिर की पुजारिन नहीं। पर आज मेरे सम्मुख तुम विरोधाभास के रूप में खड़ी हो, मेरी प्रसन्नता की पराकाष्ठा क्या हो सकती है, कह नहीं सकता!"—मनु के चक्षुओं में दंभ स्फुलिंग की भाँति ज्वलित हो उठा।

"एक स्त्री का हृदय एक होता है, और तब यह निर्विरोध मानना ही पड़ता है कि उस हृदय का अराध्यदेव भी एक ही होगा। उस अराध्यदेव के सिवाय शेष व्यक्ति उस स्त्री को अर्थात् मुझे क्या समझते हैं, इसे मैं क्या जानूँ! जब मैं व्यक्ति नहीं, समाज की वस्तु हूँ, वधू हूँ।"—वासवदत्ता ने गंभीर प्रश्न किया।

"तुम्हारे कथन को मैं भी मानता हूँ। युगों से जब समाज में सभ्यता और संस्कृति का विकास हुआ, तब से एक स्त्री एक ही पुरुष को अपना हृदय-सम्राट् बनाती आई है और तुम भी विश्वास रखो, मैं तुम्हें आजीवन अपने हृदय की सम्राज्ञी बनाए रखूंगा।"—इतना कह मनु उसका चुम्बन लेने के लिए उद्यत हुआ कि मनु के आलिंगन से इस भाँति वह मुक्त हुई—जैसे मनु कोई विषधर हो और वासवदत्ता को डसना चाहता हो।

"ठहरो मनु! पहले मुझे शृङ्गार करने दो। आज मैंने अपना जीवन-धन पा लिया है। सच कहूँ तो आज मेरी वह साधना सफल हुई, जिसके बीज मैंने आज नहीं; बहुत पहले, इतने पहले कि मुझे स्वयं को स्मरण नहीं, बोए थे।"—वासवदत्ता उठी और मनु को देखती-देखती शृङ्गार-कक्ष की ओर बढ़ गई।

मनु अब एकाकी था। मौन, धीर, संयत। एकाएक उसके अधर कुटिल मुस्कान से थिरक उठे—जैसे उसकी भावनाएँ विद्रोह करना चाहती हैं, उनमें घोर परिवर्तन आ गया है।

मनु ने मन ही मन हँस कर सोचा—"सृष्टि में आकर मनुष्य को नाना प्रकार के अभिनय करने पड़ते हैं। वासवदत्ता एक प्रेयसि का अभिनय करती है। वह समझती है कि मनु मेरे पर मस्त है, उन्मत्त है और मनु केवल अपनी पिपासा की तृप्ति करना चाहता है, अपनी वह अतृप्त पिपासा—जिसकी तृप्ति के लिए रूप का सागर चाहिए उसे।"

"वासवदत्ता!"

"नगर की प्रतिष्ठित नर्तकी और प्रेम! वह भी सच्चा प्रेम!!"—मनु एक विडम्बना की हँसी हँस पड़ा। अपने-आप प्रश्न कर उठा—"वह मनु को बुद्धू बना रही है।...मनु को बुद्धू?....अज्ञान के आवर्तन में सत्य की विस्मृति। अन्तर के जंजाल में भ्रम की उन्मुक्ति; क्योंकि मनु स्वयं सावधान है। वह सबको पहचानता है। अपने-आपको, वासवदत्ता को। उसका अपना लक्ष्य है—भोग-विलास! जहाँ उसकी लालसा मिटी, वहीं उसकी नई चाह जगी। वह नई चाह हौले से कहेगी—अब एक नई वासवदत्ता क्यों नहीं लाते? इससे भी सुन्दर, इससे भी कोमल, इससे भी यौवन।"

पद-चाप सुनते ही मनु की विचार-तन्द्रा भंग हुई। उसने द्वार की ओर ताका—स्तम्भित रह गया। सम्मुख खड़ी थी वासवदत्ता—अपनी तर्जनी के अधरों से लगाये। शृङ्गार-सज्जित अप्रतिभ रूप ने मनु को

चित्र-लिखित बना दिया। मनु मूक रहा। तुरन्त वह वातायन की ओर अक्षि-विभ्रम करता हुआ बोला—"प्राण को त्राण लेने दोगी या नहीं?"

"क्यों?"—वासवदत्ता ने अक्षि विक्षेप किया।

मनु मर्माहत हो उठा। अपने लक्ष्य की ओर उन्मुख हुआ ही था कि वासवदत्ता ने उसे रोका—"मनु!"

"क्या?"

"जो तुम करते जा रहे हो, क्या वह उचित करते जा रहे हो?"

"निस्सन्देह! मैं जो कर रहा हूँ, केवल प्रेम-बन्धन को चिरन्तन रखने हेतु कर रहा हूँ।"

"पर वासना की वीप्सा प्रेम के पतन का मूल-मन्त्र है। प्रेम को अक्षुण्ण करने के लिए त्याग चाहिए, कुछ व्यवधान होना चाहिए, वह भी विपरीत प्राणियों में।"

"नहीं वासवदत्ता! सरिता का सागर में लुप्त हो जाना ही महान् प्रेम का प्रतीक है। दो हृदयों का महामिलन ही प्रेम की सफलता है।"

वासवदत्ता ने मनु को धैर्य देते हुए कहा—"मनु! मेरा तन-मन दोनों तुम्हारे हैं। विश्वास रखो, जब कभी मैं आत्म-समर्पण करूंगी, तो केवल तुम्हें।"

"सच?"

"हाँ,....लेकिन....?"—वासवदत्ता ने मनु की ओर पीठ कर दी। मनु को ऐसा लगा कि सौन्दर्य-माधुर्य का प्रासाद भूकम्प के कारण एकाएक विनष्ट हो गया। अतः उसने तुरन्त वासवदत्ता को अपनी ओर

आमुख किया और स्थिर दृष्टि से निहारने लगा—"तुम कहती-कहती रुक क्यों गई ?"

"मनु ! मेरे जीवन में एक क्रूर काँटा प्रति पल चुभता रहता है, जब तक वह काँटा नहीं तोड़ा जाएगा, तब तक मैं किसी को भी स्वेच्छा से, निर्भयता से प्यार नहीं कर सकती ।"

"वह काँटा कौन है ?"

"उसको भग्न करोगे ?"

"मनु चाहे जिसे भग्न कर सकता है। नगर के श्रेष्ठि, लक्ष्मीपति मनु क्या नहीं कर सकता ?"—उसकी वाणी में अहंकार था ।

अहंकार विवेक का नाश कर देता है, मेधा को पथ-भ्रष्ट ।

मनु के अहंकार पर तीव्र वार करती हुई वासवदत्ता बोली—"श्रीमन्त ! वह काँटा कहीं आपको पीड़ा न पहुँचा दे !"

"मेरी शक्ति की परीक्षा लेना चाहती हो ! मैं उस काँटे को यदि भग्न करूँगा, तो उसके भग्नावशेष भी नहीं मिलेंगे ।"—अत्यन्त क्रोध आ गया मनु को—"बताओ, वह काँटा कौन है ?"

"पर मैं उस काँटे को बल से नहीं, कौशल से तोड़ना चाहती हूँ ।"

"क्यों ?"

"ताकि वह काँटा मेरे हृदय की निर्ममता और प्रतिहिंसा की भयानकता से परिचित हो जाए ।"

"तुम्हारे हृदय का पार पाना अति दुर्लभ है ।...अच्छा बताओ, मुझे क्या करना होगा ?"

"तुम्हें ?...मनु तुम्हें एक प्रीति-भोज का आयोजन करना होगा, उसमें नगरपति को आमन्त्रित करना होगा। समस्त सामन्तों, सेट्ठिपुत्रों तथा राज्य के प्रमुखों को बुलाना होगा। उसमें वह भी आएगा,...काँटा! समझे ?"

"नहीं,....पर उसका नाम ?"

"वहीं पर बताऊँगी। सर्वप्रथम तुम प्रीति-भोज के उत्सव का आयोजन का प्रबन्ध करो। ऐसा आयोजन करो जैसा आज तक नहीं हुआ है!"—वासवदत्ता मनु के सन्निकट थी—"उस दिवस मैं अपने जीवन का सर्वश्रेष्ठ नृत्य करूँगी। उस दिन तुम देखोगे कि केवल मैं नहीं नाचूँगी अपितु यह गगन, धरा, वातावरण, पवन, चराचर सब नाचेंगे और उस नृत्य में तुम मेरे जीवन का नूतन-नाटकाभिनय देखोगे।... मनु उस नाटक की सफलता मेरे जीवन की प्रथम विजय होगी।"

मनु किंकर्त्तव्य विमूढ़-सा वासवदत्ता के निरीह चेहरे पर उठते हुए अमानवीय संघर्ष को देखता रहा। अमानवीयता के मूर्त्त होते-होते उसका निरूपम रूप लुप्त हो गया। एक पैशाचिकता व्याप्त थी उसके सलोने मुख पर।

मनु ने सांत्वना दी—"चिन्ता न करो, तुम्हारे प्रतिद्वन्दी का विनाश निश्चित है।"

मनु इतना कह अपने लक्ष्य की ओर बढ़ा। तृप्ति और सन्तुष्टि की ओर झुका; लेकिन वासवदत्ता द्वार से बाहर निकलती हुई बोली— "आज से तृतीय दिवस प्रीति-भोज का उत्सव होगा।...अब मैं एकान्त

चाहती हूँ, प्रणाम।"—तीर की भाँति वासवदत्ता मनु की आँखों से ओझल हो गई।

मनु क्रोधित साथ ही पराजित होकर तोरण-द्वार की ओर बढ़ा, यह सोचता हुआ—"विचित्र है यह वासवदत्ता!"

× × ×

अपराह्न की बेला।

दिनेश की रजत-रश्मियों से धरित्री आलोकित हो उठी थी।

वासवदत्ता भोजन से निवृत होकर विश्राम करने के लिये शयन-कक्ष में बैठी-बैठी आलस्य की अँगड़ाइयाँ ले रही थीं। उसकी उनींदी बोझिल पलकें मानों कह रही थीं—"सोजा,...वासवदत्ता, अब सोजा, तू सारी रात पलकों में व्यतीत कर चुकी हो, अब तो सोजा।"

वासवदत्ता शय्या पर अर्धशायित हो गई। उसके अलस-नयनों की पलक-पंखुड़ियों ने अपने मुखराविन्दों को बन्द कर लिया।

वह तन्द्रा की सुखद स्मृति में अपने को विस्मृत करने लगी। एक पल, दो पल, तीन पल व्यतीत हुआ ही होगा कि वासवदत्ता चौंक पड़ी—"नहीं, मुझे राहुल से रह-रह कर प्रतिशोध लेना चाहिये। मृत्यु की अपेक्षा पीड़ा अधिक वेदनाशील होती है लेकिन मृत्यु से मेरी समस्या का समाधान नहीं मिलता तो...?"—उसने तुरन्त अपनी भौंहों को चढ़ाकर अपने आप से कहा—"मैं राहुल को प्राप्त करने के हेतु अनेकानेक अभिनय करूँगी, सीधे शब्दों में कहूँ तो मैं उसे किसी भी भाँति प्राप्त करूँगी।"

यह निर्णय करके वासवदत्ता ने परिचारिका को पुकारा। परिचारिका

आकर एक छोर पर खड़ी हो गई। उसे अपनी स्वामिनी की आज्ञा की प्रतीक्षा थी।

वासवदत्ता ने उसे एक पत्र लिखकर देते हुए कहा—"इसे ले जाकर भद्र राहुल को दे दो।"

"जो आज्ञा।"

"पर इस बात का किसे भी ज्ञान न हो!"

"आप विश्वास रखें।"—उत्तर देकर वह सत्वरता से चली गई।

पूर्ववत् जैसा एकान्त! वही नीरवता और शून्यता। उस शून्यता को कम्पित कर देने वाला वासवदत्ता का अट्टहास। हिंसा से सना अट्टहास!!

अट्टहास की अति ने वासवदत्ता की आँखों में आँसू ला दिये। वह ऐसी मौन हो गई जैसे वह गूँगी हो। पलकें ऐसे स्थिर हो गईं जैसे उनमें आदि से स्पन्दन नहीं है। क्षण-पल में उसकी आँखों से अश्रु के कितने ही अनमोल मोती ढलक पड़े। ढलकते अश्रुओं को आँचल से पोंछते ही उसका अन्तराल फूट पड़ा—फफक-फफक।

उसके चेहरे के भावों से ऐसा प्रतीत होता था कि एक गहरी व्यथा वासवदत्ता के सुखमय जीवन में पीड़ामय बनकर उठती है और वासवदत्ता उससे आहत होकर केवल रोया करती है, इतना [illegible] ही है कि उसके तरुण अरुण कपोल रक्तिम हो उठते हैं [illegible]
अश्रु यदि सूख जाता तो वह उलझ जाती [illegible]
महायात्रा के महा अन्त पर जहाँ उस[illegible]
है—"तुम्हारा अन्त क्या होगा?' क[illegible]

"मेरा अन्त ?"—वासवदत्ता कहती ।

"हाँ, एक नगरवधू का अन्त, एक गणिका का अन्त ?"

"मैं क्या जानूँ ?"

"मैं बताऊँ ?"—उसके मन ने कहा ।

"बताओ ।"

"कुछ नहीं, वासवदत्ता तुम्हारे जीवन का अन्त कुछ नहीं है । जब तुम्हारा जीवन जरा के जर्जर पंजों में जकड़ कर कुरूप हो जायेगा तब एक भी प्रेमी तुम्हारे द्वार के सम्मुख से नहीं जायेगा । तब सहस्त्र रूप पर मस्त-आशक्त होने वाले शलभ उस लौ की ओर लपकेंगे जो हाट में नवीन अस्पर्श्य सौंदर्य को अपने तन पर चमकाये समाज-राज्य के अत्याचार से अथवा अपने दिव्य सौन्दर्य के अभिशाप से गणिका-नगरवधू बना कर सामन्तों-सेट्ठिपुत्रों का मन बहलाने के लिये बैठा दी जायेगी ।"

"तो ?"—वासवदत्ता ने लघु प्रश्न किया जिसमें जीवन के अन्त की गुरु गंभीर समस्या का समाधान बोलता था ।

"आज ही निर्णय कर लो कि मुझे किसी न किसी प्रकार धन एकत्रित करना है ताकि यौवन ढलने के पश्चात मुझे कष्टमय-प्रताड़ित-दुत्कारित जीवन-यापन न करना पड़े ।"

...के द्वन्द्व से उन्मुक्त होकर वासवदत्ता मन ही मन निर्णय ...जाकर उसने अपनी सम्पत्ति का मूल्यांकन किया— ...विशाल अट्टालिका में यत्र-तत्र बिखरी हुई थी । ...ल, हीरों के भण्डार भरे थे तो भी ...तनी ही सम्पत्ति और एकत्रित कर लो

तब तुम्हारा जीवन सुख का शान्त सागर बन जायेगा। तुम्हारी महायात्रा के महा अन्त का सुन्दर फल निकलेगा।...पर जानती हो धन धर्म से एकत्रित नहीं होता, उसके लिये अधर्म का सम्बल लेना पड़ेगा, पाप के पंकिल में जाना-आना पड़ेगा। क्या तुम जाओगी?"

"अवश्य जाऊँगी!"—उसकी चेतना ने दृढ़ता से कहा—"धर्म और पुण्य सेठ्ठिपुत्रों व सामन्तों के रक्षा-शस्त्र हैं। मनुष्य का निर्वाण मनुष्य की केवल कल्पना है। धरती से उत्पन्न वस्तु अन्त में धरती के गर्भ में ही विलीन होती है, नभ की ओर नहीं जाती—शेष रहती है तो केवल स्मृति और स्मृति भी समय के थपेड़ों के प्रहारों से धुँधली होती एक दिन समाप्त हो जाती है।....तो फिर? मुझे धन एकत्रित करना चाहिये, गणिका तो धन शब्द की ही पर्यायवाची है अतः मैं धन एकत्रित करूँगी और धन के साथ मन की तृप्ति, वासना की तुष्टि।

वासना और राहुल!

वासवदत्ता और कविराज!!

वासवदत्ता इसी प्रकार मन से सोचती और हाथों से अतुल सम्पत्ति के भंडारों को पूर्ववत बन्द करती हुई शयन कक्ष की ओर बढ़ी। उसका अन्तर्द्वन्द्व अब सम्पत्ति से हटकर राहुल पर केन्द्रीभूत हो गया था। वह निरन्तर इसी प्रयास में थी कि राहुल किसी भाँति उसका आत्मसमर्पण स्वीकार करले।

हाँ! राहुल उसके प्रणय को स्वीकार कर ले तो वह अपने जीवनोद्देश्य को परिवर्तित कर सकती है। क्योंकि राहुल रूप का सागर है, प्रेम का आगार है, गुणों का साक्षात देवता है।

इस प्रकार वासवदत्ता विभिन्न विचारों को अपने मानसक्षेत्र में संघर्ष कराती शयनकक्ष में आई।

अन्तर्द्वन्द्व से भाराकान्त, उत्तेजना से पीड़ित वासवदत्ता दुग्ध-सी श्वेत शय्या पर तन्द्रा की मग्नता में कुछ देर तक पड़ी रही।

कुछ पल के लिये वह निर्लेप हो गई—अपनी समस्त अपूर्णताओं से।

"खट्-खट्..."

द्वार के खटखटाने की ध्वनि ने उसकी तन्द्रा को भंग कर दिया। हठात् सी उठकर वासवदत्ता ने विस्मयाभिभूत दृष्टि से देखा—"नवीन प्रभात के निमल अरुणालोक का नूतन देवता, सुन्दर मुखमण्डल पर शान्त मधुर हास्य की छटा। काली-काली आँखों की पुतलियों में श्रद्धा की ज्योति, सत्यम् शिवम् सुन्दरम् की कल्याणकारी स्वर्गीय आभा।

आगन्तुक ऐसा ही अनुपम युवक था।

अनुपम मुद्रा में खड़ा था—वासवदत्ता के समक्ष।

वासवदत्ता का मस्तक श्रद्धावत होकर झुकना चाहा पर किसी अन्तर की भावना ने उसे रोक कर प्रमाद के उन्माद में डूबा दिया।

राहुल ने भी देखा—वासवदत्ता को, उसकी उन आँखों को जो राहुल पर स्थिर थीं।

राहुल ने उसकी आँखों की भाषा को पढ़ा। उसके चक्षु मानों कह रहे थे—"मैं यौवन के मदरस में भींगी मत्तकामोन्मादिनी नारी हूँ। मेरे अंग-प्रत्यंग में उद्दाम वासना की दुर्वार क्षुधा ज्वलंत वह्नि के सदृश्य लग चुकी है। उसके शमन के लिये उतनी ही ज्वलंत विपरीत वासना चाहिये, राहुल चाहिये।"

राहुल अपने दुर्बलता की ओर उन्मुख होते हुए विचारों पर आधिपत्य जमाता हुआ गंभीरता से बोला—"पत्र में क्षमा याचना का सम्वाद पढ़कर हार्दिक प्रसन्नता हुई। पर तुम्हारे दर्प का मर्दन अभी तक नहीं हुआ है। मुझे यहाँ आने का आमन्त्रण तो दे दिया है, पर तुम भी तो आ सकती थी मेरे गृह पर।...आज आ गया हूँ फिर कभी ऐसे बुलाओगी तो अपमान कर दूँगा।"—सरोष बोला राहुल।

"तुम्हारा अपमान मेरे लिये वरदान सिद्ध होगा!"—राहुल को अपने समीप बैठने का संकेत किया। राहुल बैठा तो वासवदत्ता अद्भुत गंभीर आकृति बनाकर अन्तर्भेदी दृष्टि से राहुल को देखने लगी—"राहुल! मैं तुम्हारे गृह आ सकती थी और आना भी चाहती थी, चाहती हूँ पर मैं परवश हूँ।"—वासवदत्ता राहुल के इतनी सन्निकट आ चुकी थी कि उन दोनों की श्वाँसें परस्पर टकराने लगी। समस्त सहानुभूति को अपने स्वर में उड़ेलती हुई वासवदत्ता हौले से बोली—"राहुल!"

"क्या है?"

"तुम्हें मेरा यह जीवन कैसा लगता है?"

"कीट से हेय।"

"तुम चाहते हो कि मैं इस प्रताड़ित जीवन से मुक्ति पा लूं?"

"अवश्य!"

"तो इस जीवन के नारकीय भय को सदैव के लिये समाप्त करने के हेतु तुम्हें मेरे संग एक नाट्याभिनय करना पड़ेगा?"

राहुल करुण उपहास मिश्रित हँसी हँस पड़ा—"वासवदत्ता नाट्य-

जीवन की अनुकृति है और इसी अनुकृति के आवर्तन में तुम अपने को उलझती हुई समाप्त कर दोगी। वासवदत्ता तनिक गंभीरता से सोचो इसमें सिवाय दुःख के तुम कुछ नहीं पाओगी।.......मैं आज ही भगवान बुद्ध के वचनामृतों का पान कर रहा था। अध्ययन करते-करते प्राणी को अपने और अपने कृत्यों पर भयंकर ग्लानि होने लगती है।"

"क्या थे वे वचनामृत ?"—कुतूहलता से पूछा वासवदत्ता ने।

राहुल पश्चात्ताप भरी दृष्टि को नभ की ओर करता हुआ उपदेशक की भाँति बोला—"मानव का तन विकारी है, इसलिये क्षय निश्चित है। जन्म-मरण और उत्पत्ति-विनाश के नियम से कोई नहीं बच सका। ये चिरन्तन हैं।······वासवदत्ता! प्रलोभन और भोग नाशवान है। फिर भी तुम उनके पीछे झंझा सी भागती हो—एक मरीचिका लिये।"

"इन्हीं सदुपदेशों से प्रभावित होकर तुम मेरे अनुपम सौन्दर्य की उपेक्षा करते हो ?"—वासवदत्ता के नयनों में गर्व दीप्त हो उठा—"पर तुम यह क्यों विस्मृत कर देते हो कि शिला-रूपी हृदय पर गागर-रूपी सम्पत्ति रखते-रखते हृदय उसका अभ्यस्त हो जाता है। इसीलिये तो मैं तुम्हें कहती हूँ कि प्रवचन और विरक्ति की उक्तियाँ मुझे मत सुनाया करो राहुल ? मैं रूप की उदधि में अपनी उन्मत्त भावनाओं का पैशाचिक नृत्य देखना चाहती हूं। मेरे उर-उपवन में यदि किसी के लिये प्रेम-प्रसून विकसित है तो केवल तुम्हारे लिये, भाग्यशाली राहुल के लिये! तुम मेरा यदि समर्पण स्वीकार करो, तो मैं भी तुम्हारा उपदेश ग्रहण करूँ। बोलो स्वीकार है तुम्हें ?"

राहुल के अधरों पर स्मित थिरक उठी।

वह अपनी अन्तर्वाणी में तन्मय होता गया—"वासवदत्ता ! राहुल पर अपने सौंदर्य के मादक-बाण चलाने का प्रयास व्यर्थ है । क्योंकि मैं शीघ्र बौद्ध धर्म अङ्गीकार करने वाला हूँ । मैं भिक्षुक बनकर अपने लौकिक प्रेम-काव्य में अलौकिक ईश्वरीय प्रेम की पुण्य ज्योति का दर्शन करना चाहता हूँ । जानती हो तथागत के विचारों ने मेरे मानस में क्रान्ति मचा रखी हैं । मैं दुखों और दुखों के कारणों से मुक्त होकर निर्वाण की अखण्ड साधना करना चाहता हूँ ?"

वासवदत्ता ने लपक कर राहुल को पकड़ लिया । राहुल के समस्त तन में दामिनी-सी कौंध गई । अपने आपको उसकी पाश से मुक्त करता हुआ बोला—"छोड़ दो मुझे वासवदत्ता ।"

"नहीं ।"

"क्यों ?"

"मैं अपने को तुम पर विसर्जन करना चाहती हूँ ?"

"पर मैं अपने आप को तुम पर उत्सर्ग नहीं कर सकता ।"

"तो तुम मेरे संग रहकर अपनी उच्चतम साधना का तप करो और मैं तुम्हारे संग रहकर अपने प्रेम-प्रदीप को प्रचंड झंझावातों में प्रज्वलित रखने का प्रयास करूँ ?"—प्रेमपूर्ण प्रश्न किया उसने ।

"मैं तुम्हारे संग रहकर अपनी साधना नहीं कर सकता ?"—झुँझलाहट थी राहुल के स्वर में ।

हँस पड़ी वासवदत्ता—"तभी तो कहती हूं कवि की तुम्हें जीवन से मोह है । अतः सर्वप्रथम आत्मा के बन्धन, मोह और लिप्सा से मुक्त

होओ, क्योंकि तथागत के नाम का जप हम तुम तभी कर सकते हैं जब हमारा अन्तःकरण शुद्ध और संसारी वार्ताओं से मुक्त हो ?"

राहुल गणिका की इस उक्ति से चिढ़ गया। पराजित किन्तु अभिमानी पुरुष की भाँति उठता हुआ बोला—"मैं जा रहा हूँ, अब यहाँ कभी नहीं आऊँगा और तुम भी मेरे यहाँ कभी मत आना, प्रेम-पत्र कभी मत भिजवाना क्योंकि तुम्हारा संग मेरा पराभव है।"

"राहुल! स्वयं तथागत तो गणिकाओं, नगरवधुओं के निमन्त्रण स्वीकार करते थे और तुम में इतना आत्मबल नहीं कि नारी के संग एकान्तवास कर सको। अपनी इस महान् दुर्बलता को लेकर यदि तुम भिक्षुक भी बन जाओगे तो भी विजयी नहीं हो सकते।.......जानते नहीं, संघों में भी तो तरुणियाँ हैं, क्या वहाँ तुम अपनी पिपास के ज्वालामुखी को दबाये रख सकोगे ?"

वासवदत्ता की बातें राहुल के तन पर तपी शलाखा के सदृश्य लग रही थीं। वह चीत्कार कर उठा—"तुम मौन हो जाओ वासवदत्ता।"

"मैं मौन हो जाती हूँ।"—झट से कहा वासवदत्ता ने।

"अब मैं जाता हूँ।"

"मैं तुम्हें नहीं जाने दूँगी ?"

"क्यों नहीं जाने दोगी तुम ?"

"प्रेम जो करती हूँ।"

"पर मैं तुम से घृणा करता हूँ।"

"मैं घृणा को ही प्रेम का पर्यायवाची मानती हूँ।"

"माना करो, मुझे कोई आपत्ति नहीं।"—कह कर राहुल जाने को उद्यत हुआ।

वासवदत्ता ने झपट कर उसे अपने हृदय से चिपका कर प्यार से कहा—"मैं तुम्हें अन्तिम बार चेतावनी देती हूँ कि मेरी इतनी उपेक्षा न करो कि मुझ नारी को विवश होकर प्रतिहिंसिनी का भयानक रूप धारण करना पड़े और तब तुम्हारे पर न्यौछावर होनेवाली सुन्दरी तुम्हारी मृत्यु का आह्वान करने लगे।......तुम्हारा सर्वनाश कर दे।"

"मेरा सर्वनाश?"—राहुल ने अट्टहास किया—"राजकवि हूँ! वासवदत्ता, राजकवि!!"

"नारी के चरित्र के चक्रों के आवर्तन में अवरुद्ध कितने ही राजकवि क्या, स्वयं सम्राट पीड़ित, तड़पते, सिसकते पथ पर एकाकी घूमते दृष्टिगोचर होते आये हैं। तुम भी अपना भला-बुरा सोच लो।"

"सोच लिया।"—घृणा से दृष्टि विक्षेप करता हुआ राहुल तीर की भाँति कक्ष से बाहर हो गया।

वासवदत्ता ने रणचण्डी सी प्रचंड-उदंड होकर मधु-चषक से जन सम दर्पण को तोड़ कर खण्ड-खण्ड कर दिया।

× × ×

प्रीतिभोज का कार्यक्रम समाप्त हो गया।

इस कार्य के पश्चात गृहलक्ष्मी का सन्देह सत्य में परिणत हो गया। उसके मन मन्दिर में यह बात अराध्यदेव की भाँति बस गई कि उसका पति मनु नगर की नर्तकी वासवदत्ता पर पूर्णरूप से आसक्त है।

वह उसके पति को अंगुलियों पर नचा सकती है, संकेतों से उठा-बैठा सकती है।

इस दुखद विचारों से मुक्ति प्राप्त करने के हेतु गृहलक्ष्मी अपने को निर्विकार समझ कर कक्ष के वातायन से महाशून्य की ओर निहारने लगी।

दूर, बहुत दूर, समस्त दिग्दिगान्त तिमिराच्छन्न था। केवल प्रकाशमान थे तो झिलमिलाते तारे, प्यारे-प्यारे।

अप्रत्याशित मेघों ने अपनी भयावह गर्जना की। एकाकी में गृहलक्ष्मी के हृदय में भय उत्पन्न हो गया। एक अपरिचित आशंका से उसका अन्तर विह्वल हो उठा। सलोने मृदुल प्रणय आलोड़ित आनन पर व्यथा की घटायें छा गईं। वह एक दीर्घ निश्वास छोड़ बैठी—"युग युग से पुरुष नारी पर अमानुषिक अत्याचार करता आया है। मर्यादित पुरुषोत्तम राम से लेकर आज तक नारी पुरुषों की चेरी रही है। जब-जब अत्याचार से प्रताड़ित होते-होते वह विद्रोहिणी बनी तब-तब पुरुष ने भाँति-भाँति चेष्टा कुचेष्टा से उसका शोषण किया।"—उसके विचार समष्टि से व्यक्ति पर आ गये—"मुझे ही देखो! नगर के सेठिपुत्र मनु की पत्नी होकर इन श्रावण-भाद्र की मादक रातों में जब कम्पन भरे मलय की सौरभ से मधुमास का कण-कण महक रहा है, तब मैं विरहन बनी उनकी प्रतीक्षा में सारी रात्रि नयनों में जागते-जागते व्यतीत कर देती हूँ। मेरा हृदय एक तड़प लिये आकुल रहता है। कभी-कभी आवेशता के कारण मन पाप करने को निश्चय कर लेता है कि मैं भी किसी से अनुचित सम्बन्ध करके अपने पुलकित सौन्दर्य का आनन्द लूट्

पर.......।"—गृहलक्ष्मी का विद्रोह की ओर अग्रसर होता हुआ मन भगवान के कोप से डर जाता था—"प्रभु के राज्य में ऐसी छलना और कुल्टा नारी का कोई स्थान नहीं। ऐसी नारी के पाप के प्रगट हो जाने पर प्राचीन युग में, सुनती हूं कि उसका अंग-भंग करके समस्त नगर में प्रदर्शन कराया जाता था। प्रजा उस पर थूकती थी, उसकी विवशता पर क्रूर अट्टहास किया करती थी। तब नारी ऐसी नारकीय यातना के भय और लोमहर्षक वाक्य-प्रहार से भयभीत पाप की ओर अग्रसर न होकर पराजित हो उठती थी और एक घुटता हुआ जीवन-यापन करती थी।"

गृहलक्ष्मी के चेहरे पर दुर्द्धर्ष संघर्ष का भीषण उतार-चढ़ाव हो रहा था।

प्रकोष्ठ में घोर नीरवता थी और दुर्बोध्य भयावह निस्तब्धता थी—गृहलक्ष्मी के उर में।

निर्जीव हृदय का विषाद सजीव प्राणी की भाँति सकरुण स्वर में ग्लानि व क्षोभ से प्रताड़ित-सा ध्वनित-प्रतिध्वनित हो उठा—"वासवदत्ता के रूप के मूल्यांकन में मैं क्या कम हूं? वह मोहित मुग्धा है तो मैं कल्याणी कामिनी हूँ।...तो भी मेरे सामाजिक-धार्मिक बन्धनों से अवगुण्ठित उपासक पर-स्त्री की उपासना क्यों करता है?"

"हाँ, गृहलक्ष्मी क्यों करता है?"—गृहलक्ष्मी के मन ने पूछा।

"प्रीतिभोज के उत्सव में नगरपति की उपस्थिति के मध्य, सदस्य जन-समुदाय के लक्षित करने पर भी मेरे पतिदेव लोलुप हिंस्र जन्तु की भाँति तीक्ष्ण दृष्टि से वासवदत्ता की ओर क्यों घूर रहे थे?

अपनी आन, मान, अभिमान और सम्मान को विस्मृत करके जब

नर्तकी अपने अंग-प्रत्यंग और उपाँगों का अभिनय करती हुई झूमती तो आराध्यदेव अबोध बालक की भाँति क्यों उछल पड़ते थे ?

जब वासवदत्ता अपनी लता सदृश्य मृदुल लचकीली कटि को छिन्ना, निवृता, रेचिता, कम्पिता, उद्‌हिता स्थितियों में लचका कर एक पूर्ण आवर्तन निकालती तो सेट्ठिपुत्र के मुखारविंद से वाह-वाह प्रस्फुटित क्यों हो जाता था ?

जब वासवदत्ता अपनी पलकों को उन्मेष, निमेष, प्रसृत, कुञ्चित, सम, विवर्तित आदि क्रियाओं में नचा कर कटाक्ष करती तो मेरे माँग के सिन्दूर के संग स्वयं नगरपति स्वाति बून्द विहीन आहत पपैया की भाँति क्यों कलप पड़ते थे ?

मैं देखती रही और देख कर कुछ न कर सकी। मेरे सुहाग की सौम्य संसृति में स्फुलिंग बन कर आनेवाली नारी के ज्वलित कणों का आभास पाकर भी मैं निरुपाय बैठी रही।.......जीवन की यह कैसी लाचारी है ?"—सोचकर गृहलक्ष्मी का हृदय रो उठा। लेकिन तुरन्त वह बड़बड़ाई—"जब वासवदत्ता नृत्य के मध्य केवल नगरपति के समक्ष एक सुन्दर मुद्रा में खड़ी हुई और नगरपति आनंदातिरेक होकर उसे एक सतलड़ा हार पारितोषिक रूप में देने को उद्यत हुए तो सेट्ठिपुत्र के लोचनों में अनल का घोर-मौन आर्तनाद उठा था।

पर तत्काल वे भी विवश थे—ठीक एक गौरवमयी कुलवधू की भाँति, मेरी तरह।"

इसी प्रकार विचारों में उलझी हुई गृहलक्ष्मी स्वप्नाविष्ट नयनों से अभी तक शून्य का अवलोकन कर रही थी।

धीरे-धीरे उसे निद्रा सताने लगी। पलकें श्रान्त होकर परस्पर पर मिलने के लिये आतुर होने लगी। तन भी थकान के मारे भाराकान्त हो उठा था।

नील निलय में दामिनी की चमक के संग मेघों की एक गुरु गम्भीर गर्जना हुई। यह गर्जना वृष्टि के आने की सन्देशवाहक थी। देखते-देखते वृष्टि होने लगी।

वृष्टि के साथ दामिनी उस तिमिरमयी घटाओं की वक्ष को बार-बार चीरती हुई ऐसे चमक उठती थी जैसे निराशाओं के धुँधलपने में आशा की झलक।

गृहलक्ष्मी को भय लगने लगा एकाकीपन उसके यौवन को उलाहना देने लगा। उसने एक पल के लिये अपनी आँचल विहीन कंचुकी के उन्नत उरोजों पर दृष्टिपात किया और उपेक्षा की पीर से रो उठी।

रोते-रोते उसकी आँख लग गई।

प्रकोष्ठ के द्वार पर निस्तब्धता निर्मम प्रहरी की सदृश्य पहरा दे रही थी।

केवल सुनाई पड़ रही थी—गृहलक्ष्मी की श्वाँस-प्रश्वाँस।

निशीथ के क्षण विभावरी के आँचल के नीचे प्रश्रय पा रहे थे।

सीढ़ियों पर पदचाप सुनाई पड़ी। पदचाप कक्ष-द्वार पर आकर रुक गई। कुछ काल द्वार पर रुक कर उसने भीतर प्रवेश का साहस किया तो निस्तब्धता के प्रहरी ने उसे रोका।

आगन्तुक ने भी उसकी आज्ञा को माना पर एक पल के लिये फिर तुरन्त सबकी अवहेलना करता हुआ कक्ष में प्रविष्ट हो गया।

दीप-शिखा का प्रकाश मद्धिम था जिसे आगन्तुक ने प्रखर किया और देखा—"मदमस्त मुग्धा की भाँति सुसप्त गृहलक्ष्मी को।"

देखा क्या ? देखता रहा और देख-देख कर उसके मादक स्वरूप का रसास्वादन करता रहा।

तब मनु के पराजित-निरुत्साही मन ने हौले से कहा—"यह भी तो कलि है।"—इतना कह कर मनु यंत्रचालित-सा गृहलक्ष्मी पर झुकता ही गया। जब उसका मुँह गृहलक्ष्मी के कपोलों के सन्निकट आ गया तो वह अर्धचेतन-सा होकर उसका एक चुम्बन ले बैठा।

इस सिहरनमय स्पर्श से गृहलक्ष्मी ने अपनी पलकों को अविकसित प्रसून जिस तरह विकसित करता है, उस भाँति खोलीं।

हृदय को विश्वास नहीं हुआ। सोचा—"यह स्वप्न है या सत्य ?" —और तुरन्त उसने मनु के अंग-प्रत्यंग को स्पर्श करके अपने भ्रम का निवारण किया।

प्रणय विह्वल-सी होकर उसने भी मनु के अधरों का चुम्बन ले लिया। चुम्बन लेते ही गृहलक्ष्मी के कर आलिंगन में आबद्ध होकर शिथिल पड़ गये।

वह मनु से नितान्त विलग होकर शून्य की ओर निहारने लगी।

मनु कम्पित स्वर में बोला—"महिषि ! विलग न हो, आओ, मेरे समीप आओ।"

"...............।"—गृहलक्ष्मी मूक रही।

"मुझसे रूठ गई हो ?"

"………।"—इस बार गृहलक्ष्मी ने अर्थभरी दृष्टि से देखा। नयन मानो बोल उठे—चतुर पुरुष तुम्हें रमणी की दुर्बलता से खूब खेलना आता है।

"प्रिये !"—मनु गृहलक्ष्मी से सटकर बैठ गया।

"…………।"—बिना कुछ कहे गृहलक्ष्मी मनु से विलग हो गई। उसे इतना रोष आया कि वह मनु को दुत्कार दे, फटकार दे, अपमानित कर दे पर वह ऐसा नहीं कर सकी। न जाने क्यों वह ऐसा नहीं कर सकी, इसका निर्णय वह स्वयं नहीं कर सकती थी। तो भी अपने अन्तर की असन्तुष्टि को निकालती हुई वह उष्ण स्वर में बोली—"आज उस गणिका ने दुत्कार दिया क्या ?"

प्रहार मार्मिक था। मनु विचलित हो गया। एक पल में उसकी आकृति पर क्रोध की विकृत रेखायें उठीं और मिट गईं।

"नहीं ! आज मैं तो भ्रमण करने गया था।"—पापी की भाँति दृष्टि को इधर-उधर मटका कर उसने कहा।

"ऐसा तो आज तक नहीं हुआ है ?"

"मैं सच कहता हूं प्रिये कि आज मैं वासवदत्ता के यहाँ नहीं गया। वास्तव में आज वहाँ जाने की इच्छा ही नहीं थी।"

"विश्वास नहीं होता आप पर ?"

"नारी का दूसरा नाम अविश्वास है।………गृहलक्ष्मी ! नारी को विश्वास दिलाने के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण चाहिये और प्रत्यक्ष प्रमाण प्रत्येक पल सुलभ नहीं।"—मनु की दृष्टि गृहलक्ष्मी के चेहरे पर जम गई।

गृहलक्ष्मी भी पुरुष की उस स्थिर दृष्टि से उत्पन्न लज्जा के कारण नत-नयन हो गई।

उसके कपोल अरुण हो उठे।

मनु उसके कोमल कर को अपने युग्म हाथों में लेकर प्यार से सहलाने लगा।

गृहलक्ष्मी इस प्रणय-स्पर्श से पुलकित हो गई।

कुछ काल यह प्रथम प्रणय-लीला का अभिनय होता रहा। एकाएक सर्प के डंक मारने की क्रिया को देखकर प्राणी सावधान होता है, ठीक उसी प्रकार गृहलक्ष्मी अपने कर को मनु के हाथों से मुक्त करके कह उठी—"नहीं, मुझे आप छोड़ दें।"

मनु के मर्म-स्थल पर आघात लगा। वह सत्वरता से बोला—"तुम मेरे आनन्द में विघ्न डाल देती हो, आत्मा को तुम एक अतृप्ति की पीड़ा में जलने के लिए छोड़ देती हो, तुम्हारा यही स्वभाव कभी संघर्ष में परिणत हो जाएगा।"—मनु ने एक चेतावनी दी।

गृहलक्ष्मी मनु के तमतमाये ताम्रवर्ण से चेहरे को देखा और मन ही मन सोचा—"जिस प्रकार तुम्हारे हृदय को दुःख पहुँचता है, ठीक उसी प्रकार तुम्हारे पर-स्त्री के गमन पर मुझे पीड़ा होती है। जब मैं एकाकी वरदानमय यौवन को लिए अभिशप्त जीवन के पल व्यतीत करती हूँ, तब तुम्हें मेरे पर तनिक भी दया आती है? जब मैं आपका चरण-स्पर्श करके अनुनय से कहती हूँ कि नाथ! आज मत जाइए, तो आप मेरी प्रार्थना को कुचल करके हृदयहीन की भाँति चले जाते हैं।.... निर्मोही कहीं के, जाइए न, कौन रोकता है आपको?...पर आज, आज

मैं भी आपको सुख नहीं दूँगी, आप मुझे रह-रह कर जलाते हैं, तो मैं भी आपको एक संग जलाकर भस्मीभूत कर दूँगी।"—सोचते-सोचते गृहलक्ष्मी के नयनों में अश्रु छलछलाये।

"अरे! तुम रोती हो?"

"नहीं!"—अनिच्छा से कहा गृहलक्ष्मी ने।

"धत्, पोंछो इन आँसुओं को,....गृहलक्ष्मी एक बात पूछूँ?"

"पूछिए।"

"तुम स्त्रियाँ ही पुरुषों को पथ-भ्रष्ट होने के लिए विवश करती हो। तुम उन्हें लाचार करती हो कि वे गणिका-गामी बने।"—स्वर तनिक तीव्र था।

"यह कैसे?"—गृहलक्ष्मी ने तुरन्त पूछा।

"कैसे?"—सिंह की भाँति नेत्र विस्फारित करके मनु बोला—"जब तुम मेरे हृदय की तृप्ति नहीं करोगी तो क्या मैं अन्य स्त्री के यहाँ नहीं जाऊँगा?"

"और यदि आप मेरी तृप्ति नहीं करें, तो क्या मैं...?"

"गृहलक्ष्मी!"—मनु चीख पड़ा—"बहुत आगे बढ़ गई हो?"

"........।"—गृहलक्ष्मी मन ही मन कुढ़ती रही।

"बोलती क्यों नहीं?"

"आप तो अभी भी जाते हैं।"—बात को नितान्त परिवर्तन करती हुई बोली गृहलक्ष्मी ने।

मनु का क्रोध शान्त हो गया। प्यार से गृहलक्ष्मी को सहलाता हुआ बोला—"मैं वासवदत्ता के यहाँ अवश्य जाता हूँ, पर केवल आमोद-

प्रमोद के लिए।....गृहलक्ष्मी! मैंने स्वप्न में भी किसी अन्य स्त्री से दुष्कर्म करने के बारे में सोचा तक नहीं है।"—मिथ्या की पराकाष्ठा का उल्लंघन करके मनु बोला।

"मन, मन का भेद नहीं जानता।"

"पर मन, मन का विश्वास तो करता है।....गृहलक्ष्मी! मैं प्रभु से यही प्रार्थना करता हूँ कि वे मुझे बस इस पतन से बचाये।"—और मनु पुनः गृहलक्ष्मी का कर पकड़ कर अपने सन्निकट शय्या पर बैठा लिया—"गृहलक्ष्मी! मेरे मन-मन्दिर में केवल तुम्हारा वास है। संगीत और नृत्य का प्रेमी होने के कारण मैं वासवदत्ता के यहाँ अवश्य जाता हूँ, पर अभी तक उसके किसी भी अंग का पतित भावना से स्पर्श नहीं किया। भरोसा रखो! मैं तुम्हें चाहता हूँ, केवल तुम्हें ही चाहूँगा, आज भर नहीं, आनेवाले कल में भी।"—कहते-कहते मनु और गृहलक्ष्मी के अधर परस्पर मिल गये।

दोनों की उष्ण श्वासें परस्पर टकराईं।

भारतीय नारी पति के विश्वास-भरे शब्दों के आश्वासन में, मिथ्या प्रेम-प्रदर्शन में अपने हृदय का सकल द्वेष-कलुष मिटाकर उसे अपने जीवन का महान् समर्पण कर बैठी।

× × ×

नगरपति के हाथ में मधु-चषक थमाती हुई वासवदत्ता बोली—"आपको इस तुच्छ नर्तकी का साधारण नृत्य पसन्द आया?"

"साधारण कैसा? अनुपम क्यों नहीं कहती?"—नगरपति ने मधु का एक घूँट पीते हुए कहा—"तुम्हारे अधरों से गीत, हाथों से अर्थ,

नेत्रों से भाव और पाँवों से ताल का सुन्दर प्रदर्शन देखकर तो मैं स्तंभित रह गया। सुन्दरी! मेरे मन से तुम्हारी स्मृति ओझल हो रही थी, यह तुमने उचित ही किया कि मुझ से मिलने की अभिलाषा प्रकट की।"

"और मैं धन्यवाद सेट्ठिपुत्र मनु को देती हूँ, जिसने कार्षापण, अर्धवाद, माषक तथा रुपी* की चिन्ता किये बिना इस उत्सव को पूर्ण-रूपेण सफल बनाया।"

"मनु से हम भलीभाँति परिचित हैं। वह सुन्दरियों का अन्वेषक है। बहुत दिन पूर्व वह किसी अत्यन्त लावण्डमयी क्रीत-दासी से प्यार करता था, जो अन्त में गणिका बनकर कहीं सुदूर दक्षिण में चली गई।"

इस कथन पर वासवदत्ता के कान खड़े हो गये।

नगरपति ने उसकी ओर देखकर एक ही साँस में मधु-चषक खाली कर दिया। तनिक उन्मादित होकर बोला—"तुम हम से दूर-दूर क्यों? निकट आओ।"—नगरपति के युग्म कर वासवदत्ता को आलिङ्गन में लेने के लिये विस्तृताकार हो गये।

वासवदत्ता भी शय्या पर अर्धशायित-सी हो गई।

प्रीति-भोज के उपरान्त नगरपति का ध्यान वासवदत्ता की ओर आकृष्ट हुआ था, पर राज्य-प्रतिष्ठा का ध्यान रख करके उन्होंने उसे मिलने का आमन्त्रण नहीं दिया था; पर जब वासवदत्ता ने स्वयं उनसे मिलने की इच्छा प्रकट की, तो नगरपति ने तुरन्त उस इच्छा को पूर्ण करने की स्वीकृति दे दी।

---

* बौद्धकालीन सिक्के।

और आज—

सांध्य-नक्षत्र के उदय होने के संग ही नगरपति की व्यक्तिगत वाटिका में वासवदत्ता की शिविका आकर रुकी।

नगरपति पूर्व से ही प्रतीक्षा कर रहे थे। पलक झँपते वे उसके समीप गये। वासवदत्ता का हाथ अपने हाथ में लेकर शिविका से उतरने में सम्बल दिया। वासवदत्ता का शीर्ष और नयन दोनों प्रणाम हेतु नत हो गये।

तत्पश्चात् नगरपति ने उसे अपनी वैभव-सम्पन्न वाटिकाओं में विहार कराया।

जब नक्षत्रों से नभ दीप्त हो उठा, तब वे दोनों केलि-भवन में पूर्व सज्जित शय्या पर आकर मधु-पान करने लगे।

वासवदत्ता के सामीप्य-संसर्ग से नगरपति अकस्मात चौंक कर उठ गये। उसकी कलाई को पकड़कर, उसपर झुककर अस्फुट स्वर में बोले—"ऐसा प्रतीत होता है, जैसे तुम जलती हुई शिखा हो। कितनी तपिस है तुम्हारे अङ्ग-अङ्ग में!"

वासवदत्ता कुछ देर मूक रहकर विचित्र दृष्टि से नगरपति को देखती रही।

नगरपति अपनी दृष्टि को कभी वासवदत्ता पर और कभी यत्र-तत्र धावित करने लगे।

"शिखा या शीतलता!"—लघु शब्द उच्चारित करके वासवदत्ता ने अपने नयनों की भावना को नगरपति के लोचनों की भावना से टकराया

और मन्त्र-मुग्ध-सी नगरपति के कन्धे पर अपनी गर्दन टेककर तप्त-द्रुत निश्वास भरने और तजने लगी।

नगरपति ने प्रस्तर-प्रतिमा-सा अचल वासवदत्ता की पीठ पर अपना कर प्रसारित कर दिया।

अवस-सी उठकर उस गणिका के तर्क-जाल से कुन्तलों के मध्य अपना मुँह रख कर उसकी मादक सौरभ को साँसों द्वारा पीने लगे।

वासवदत्ता निर्विरोध और निर्वाक बैठी रही।

नगरपति का हृदय जोर से कोलाहल कर उठा।

प्रदीप का आलोक नर-नारी की ऐसी क्रिया-कलाप से काँप उठा, जैसे यह निर्जीव भी पुलकित हो उठा हो।

वासवदत्ता उठकर नगरपति के सम्मुख आई। नगरपति नेत्रोन्मीलन करके पुलक आनन्द में निमग्न था। वासवदत्ता ने अपने युग्म करों में नगरपति के मुख को ले लिया। अद्भुत आनन्द की पुलक अनुभूति से नगरपति विभोरित से हो उठे। उन्होंने कुछ भी नहीं किया। वासवदत्ता ने उसका चुम्बन ले लिया। तब नगरपति ने भी उसे अपने आलिङ्गन में आबद्ध करना चाहा, तो वासवदत्ता उससे हठात् विलग होकर वातायन पर खड़ी हो गई।

इस पर नगरपति के वासना की यंत्रणा चीख उठी।

देह की शिराएँ-उपशिराएँ इस अतृप्तता से टूटने-सी लगीं।

वे आवेश-भरे स्वर में बोले—"वासवदत्ता! तुम हमसे विलग क्यों हो गईं?"

"ऐसे ही महाराज !"—सजल मलीन स्वर उस प्रकोष्ठ में संगीत की भाँति गूँज उठा।

"तुम इस भाँति हमारे सुख में आघात पहुँचाना श्रेयस्कर समझती हो ?"—नगरपति गंभीर हो गये।

"नहीं महाराज ! जब कभी मैं जीवन का अपरिमित आनन्द लूटने लगती हूँ, तो मेरा अपमान मुझे एक मार्मिक यन्त्रणा देने लगता है। मेरे रोम-रोम में पीड़ामय जीवन उत्पात मचाने लगता है। मेरे मधुमय प्रेम-नीड़ को क्षत-विक्षत करने के लिये वह मुझे विवश करने लगता है।"

"कौन-सा अपमान है वह ?"

"भयानक अपमान !"

"किसने किया ?"

"आपके अपने प्रियजन ने।"

"मेरे प्रियजन ने ?"

"हाँ महाराज।"

"असम्भव है।"

"इसलिये कि आपका हृदय निर्मल जल की भाँति स्वच्छ है, पर औरों का हृदय तो कल्मष की भाँति कलुष है।"

"यह बता सकती हो कि वह कौन है ?"

"चरण-धूलि को उसका परिचय देना और उसके अपराध को बताना स्वीकार है किन्तु यह सब बताने के पूर्व मैं इस बात की स्पष्टोक्ति चाहती हूँ कि अपराधी को दंड निश्चय ही मिलना चाहिये।"

"क्यों ?......अपराध प्रमाणित हुए बिना दंड देना न्याय के विरुद्ध नहीं समझा जायेगा ?"

"लेकिन अपनी आत्म-रक्षा हेतु अपराधी भाँति-भाँति के तर्क उपस्थित करके अपने अपराध को निरपराध का रूप भी तो दे सकता है ?"

"यह कैसे हो सकता है ?"

"महाराज ! व्यक्तिगत अपराधों के लिये प्रमाणों का प्राप्य होना अति दुर्लभ है और बिना प्रमाण के अपराध प्रमाणित नहीं किया जा सकता।"

नगरपति अविचल से वासवदत्ता के समीप खड़े होकर अन्धकार की ओर निहारने लगे।

उनकी भंगिमा से प्रतीत हो रहा था कि इस तिमिर के महाशून्य में वे इस समस्या के समाधान का अनुसंधान कर रहे हैं। उन्होंने वासवदत्ता को नितान्त मौन देखकर कुछ कहना चाहा, पर कह नहीं सके। तब वासवदत्ता शय्या की ओर बढ़ी—"महाराज ! आप आज्ञा दें। मैं प्रस्थान करना चाहती हूँ ?"

"प्रस्थान करना चाहती हो ?"—नगरपति ने विस्मय से पूछा।

"हाँ, रजनी व्यतीत हो रही है।"—वह द्वार की ओर बढ़ी।

नगरपति पथ-प्राचीर बन गये—"व्यतीत होती है तो होने दो। पर तुम मत जाओ।"

"महाराज ! न्याय-निर्णय पर आपकी मूकता मेरे हृदय में विचित्र भावों की सृष्टि कर रही है। मैं सोच रही हूँ कि क्या महाराज अपनी स्वेच्छा से मेरे अपमान के प्रतिशोध का प्रतिकार नहीं निकाल सकते ?"

उत्तेजना से तापित नगरपति का अहम् भाव बोल उठा—"मैं इतना निर्बल हूँ ?"

"ऐसा मैं कैसे कह सकती हूँ ?"

"समझती तो हो ?"

"नहीं, मैं आपको निर्बल नहीं समझती पर अपनी ओर आपको तनिक उदासीन पाती हूँ।"

"नहीं वासवदत्ता ! तुम्हारे हृदय के मूक क्रन्दन में तुम्हारी निर्दोषता की वाणी सुन रहा हूं। तुम्हारा अपमान करने वाले का सम्मान शीघ्र ही धूल-धूसरित होगा।"

जैसे जैसे नगरपति अपने शब्द कहते जा रहे थे वैसे-वैसे वासवदत्ता के अंग महाराज के अंगों से मिल रहे थे।

शिशु की भाँति अबोध बन कर वासवदत्ता ने नगरपति के उभरे वक्ष पर अपना मस्तक रख दिया।

नगरपति की इन्द्रिय चेतना दुर्मर्ष हो उठी।

मोहिनी की सम्मोह में ठगे से वे हठात् उन्मुक्त होकर बोले—"सुन्दरी ! अब तो हमारे पर विश्वास है ?"

"राजनीति के क्षेत्र के सैनिक की वार्ता पर विश्वास नहीं किया जाता ; क्योंकि राजनीति से धर्म गौण माना गया है अतः आप मुझे वचन दीजिये।"—अपने मस्तक को महाराज की वक्ष में और गाड़ती हुई वासवदत्ता बोली।

"वचन!"—नगरपति के मन ने रोका। यह, वह नारी है श्रीमान, जिसके समयान्तर कितने ही रूप बनते-बिगड़ते रहते हैं। उन सबों के

भिन्न-भिन्न तात्पर्य और स्वार्थ होते हैं और उनमें एक भयानकता और परिवर्तन निहित रहता है।"

"किसी को प्राण दंड दिलाने की इच्छा है क्या?"—नगरपति ने विहँस कर कहा।

"नहीं।"

"किसी धनी को धनहीन करना है?"

"नहीं।"

"तो?"

"केवल किसी को श्री हीन करके निर्वासन देना है।"

"क्यों?"

"महाराज! उसने मेरी प्रतिष्ठा को अपहरण करने की चेष्टा की थी।"

"तुम्हारी प्रतिष्ठा को?"

"हाँ।"

"कैसे?"

"एकान्त में।"

"क्यों?"

"मैं क्या जानूं।"

"फिर तुमने अपनी रक्षा उससे किस प्रकार की?"

"युक्ति से।"

"सुन्दर! तुम्हारी बुद्धि......।"

"महाराज !"—बीच में बोली वासवदत्ता—"उस दिन भगवान मेरा साथ नहीं देता तो मैं... ...।"

"संभल कर स्पष्टता से कहो ?"

"घटना दो माह पूर्व की है ।

अपराह्न काल था ।

गगन मेघाच्छन्न था ।

मारुति के अदृश्य झूले पर चढ़ कर मन-मयूर मतवाले हिचकोले ले रहा था । मेरा यौवन कल्पनाओं का एक विकट जाल बुन रहा था । मैं सोच रही थी कि मैं अपना प्रणय-दान किसे दूँ ?

तत्क्षण किसी के आने की आहट सुनाई पड़ी ।

मेरे प्रकोष्ठ का द्वार बंद था । मैंने समझा—कोई परिचारिका होगी । पर मैंने देखा—एक अत्यन्त गोरा पग द्वार के भीतर प्रवेश कर रहा है । वह पग रति-पति जैसा लावण्यमय अपरिचित तरुण का था ।

मैं उसे देखती रही और वह मुझे देखता रहा ।

एक पल, दो पल, तीन पल देखने में ही व्यतीत हुए तब उस तरुण के अधर मुस्करा पड़े । मुझे एक अद्भुत आकर्षण की विद्युत उस मुस्कान में जान पड़ी । सम्मोहित सी उठकर मैं तरुण के समीप गई । तरुण ने दो डेग आगे और बढ़ाये ।

मैंने किंचित स्मित संग कहा—"प्रणाम !"

युवक अपनी वाणी में मधुमय प्रणय सिंचित करता हुआ बोला—"प्रणाम देवी ।"

"आसन ग्रहण कीजिये।"—मैंने कहकर मन में सोचा—"व्यक्ति सुसंस्कृत एवं सभ्य है।"

युवक हिम सी श्वेत संगमर्मर की वेदी पर बैठ गया।

"तुम्हारा नाम वासवदत्ता है ?"

"जी।"

'नगर की श्रेष्ठ सुन्दरी तुम्हारा सौन्दर्य सम्पन्न तन केवल दृश्यमात्र है या स्पृश्यमात्र ?'

आगन्तुक के भयानक प्रश्न सुनकर मैं संभल कर बोली—"मेरा सौन्दर्य दृश्यमात्र है, मेरा स्पर्श अनिच्छा से कोई नहीं कर सकता।"

"तुम तो गणिका हो, सम्पत्ति तुम्हारे जीवन का मूलमंत्र है, मैं तुम्हें अतुल सम्पत्ति दे सकता हूँ।"

"सम्पत्ति मेरे जीवन का मूलमंत्र अवश्य है, पर आनन्द नहीं, हृदय की स्वामिनी नहीं।"

"गणिका और हृदय ?"—तरुण खिलखिला कर हँस पड़ा—"यह तो तुमने विरोध की बात कह दी।"

"इस विरोध के आवरण में ही सत्य का नग्न रूप है। जानते हो, तन का क्रय-विक्रय किया जा सकता है, पर मन का नहीं। मन का तो तभी विक्रय किया जाता है, जब वह प्रणय के अभग्न बन्धनों में बाँध लिया जाय।"—मैंने भावातिरेक होकर कहा।

फिर वासवदत्ता निस्तब्ध हो गई।

अल्प क्षण पश्चात वह अपने नयनों में नाट्य-नेत्री की भाँति कृत्रिम विषाद लाकर बोली—"महाराज ! फिर उस तरुण ने क्या किया···?"

"बताओ, क्या किया ?"

"वह हिंस्त्रजन्तु की भाँति मेरी ओर लपका। मैं काँपी, सिहरी और भय से आतंकित हो गई। चीत्कार करने के लिये मैंने अपना मुँह खोला कि उसने झपट कर मेरा मुँह वस्त्र से बन्द कर दिया। मेरे कपोलों का चुम्बन लेने लगा। बाहुपाँश में आबद्ध करके भयावह सर्प की भाँति मेरे अधरों का पान करने लगा।"

इतना कह वासवदत्ता नगरपति की ओर इस हेतु से देखने लगी कि मेरी कथा की उन पर क्या प्रतिक्रिया हुई है ? उसने देखा— महाराज की आकृति ताम्रवर्ण-सी हो गई। भृकुटि वक्र होकर प्रतिद्वन्द्वी से टकराने को आकुल है।

बाण ठीक संकेत पर था।

नगरपति के कपोलों-से-कपोल मिला कर वह भराँये स्वर में बोली— "महाराज! इसके पश्चात उसकी तीक्ष्ण-कटारी सी अंगुलियाँ मेरे उरोजों पर नर्तन करने लगी। ओह! कितनी अमानुषिक वेदना की घड़ी थी वह ? महाराज! मैंने सारे बल से उस युवक की शृँखला-स्वरूप बाहुपाश को तोड़ा और मुक्त होकर भागी।

"वह तरुण कौन था ?" —रोष महाराज के स्वर में बोल उठा।

"मैं उसी तरुण से अपना प्रतिशोध लेना चाहती हूँ !"—धैर्य से कहा वासवदत्ता ने।

वासवदत्ता नगरपति को अपने अंक में समेटने लगी। नगरपति को यह पता नहीं लग रहा था। तुरन्त दण्डधारी को पुकारने के लिये

मुख को खोला ही था कि वासवदत्ता ने कहा—"महाराज ! प्रथम यह बताइये कि उस युवक को क्या दण्ड मिलना चाहिये ?"

"उसके हाथ काट दिये जाँय ?"

"नहीं ।"

"क्यों ? क्या यह दण्ड उचित नहीं ?"

"नहीं महाराज ! मैं इतनी वीभत्स दण्ड विधान की समर्थिका नहीं । मैं तो केवल उस युवक को श्री हीन करके, उसका नगर से निर्वासन चाहती हूँ ।"

"हमें यह दण्ड स्वीकार है !"

"वचन ?"

"वचन !"

"महाराज वह आपका प्रियपात्र है ?"

"तुमसे भी....?"—महाराज की वासना बोली ।

"हाँ !"

"नहीं, मुझे तुमसे प्रिय अन्य वस्तु नहीं लगती है । सुन्दरी ! शीघ्र ही उस चरित्रहीन का नाम बताओ ।"—वासना और उत्तेजित हो उठी ।

"उस युवक का नाम......?" —कहती-कहती वासवदत्ता मौन हो गई ।

"यह कैसा अभिनय ?...कहो न सुन्दरी ?"—महाराज ने उसे अंक में जकड़ लिया ।

"आपका राजकवि राहुल ।"

"गणिके !"—नगरपति उससे तुरन्त विलग हो गये।

"महाराज ! वचन का पालन कीजिये, नहीं तो रजनी का आँचल विदीर्ण करती ऊषा रानी आ जायेगी।"—मर्माहत कटाक्ष किया वासवदत्ताने। शेष वासना के उद्दाम में शिथिल हो गया।

नगरपति ने दण्डधारी को अपनी आज्ञा सुना दी।

वासवदत्ता के नयनों में तत्क्षण प्रतिशोध बोल उठा—"देखा राहुल ! नारी के चरित्र को ?"

× × ×

प्रतीची के प्रांगण अंशुमाली की रश्मियाँ नूतन उन्मेष लेकर नर्तन करने लग गई थीं।

नभ गहरा नीलाभ था। कहीं-कहीं श्वेत घन के टुकड़े पंखों की तरह घूम रहे थे।

चंद नगरवासी अपनी गगन चुम्बनी अट्टालिकाओं की छतों पर बैठे रश्मियों का अवलोकन कर रहे थे और उन लक्षाधीशों सामन्तों की श्वेत स्फटिक-सी प्रस्तर की बनी अट्टालिकायें रश्मियों के प्रकाश से अत्यन्त मनोरम लग रही थीं।

प्रवासी व्यवसायी व सेठिपुत्र प्रातःकाल की अमृतमयी व स्वास्थ्य-वर्धक पवन का आनन्द लेने के लिये अपने गृहों से रथों पर सवार होकर ऊषा की धुँध के संग जो बाहर निकले थे, अब वे पुनः गृहों की ओर लौटने लगे थे।

उन सब का ध्यान उस जन-समूह की ओर लगा हुआ था, जो द्रुतगति से वेगवती धारा की सदृश्य जन-पथ के दक्षिण-छोर पर स्थित

हरितिमाच्छन्न क्षेत्र की ओर बढ़ रहा था—अत्यन्त तीव्र कोलाहल करता हुआ।

उस जन-समूह में उस नगर के नई पौध के रूप में शिशु, कलियाँ स्वरूप बालक, अंकुर सदृश्य किशोर, सुमन भाँति युवक, सौरभ रूप प्रौढ़ और विनाश की स्थिति में कुम्हलाये सुमन की सदृश्य वृद्ध थे।

उस जन-समूह में सृष्टि की जन्मदात्री, संचालिका और संहारिका नारी भी थी।

सारे जन-समूह पर श्रद्धा की मौनता और दर्शन की उत्कण्ठा छाई हुई थी।

आपस के तन-घर्षण तथा स्पर्श से अपरिचित वह जन-समूह केवल क्षेत्र की ओर बढ़ता जा रहा था।

वासवदत्ता का रथ भी उसी पथ से प्रस्थान कर रहा था।

श्रान्त-क्लान्त वासवदत्ता की घनी-काजल-सी अलकें उसके शशि-मुख के चतुर्दिक आच्छन्न थीं। उन श्यामल अलकों के मध्य प्रकाश-पुँज की भाँति दीप्त उसका आनन अत्यन्त भला लग रहा था।

वासवदत्ता की उनींदी पलकों में मद का क्षीण प्रभाव अब भी था। वसन भी अङ्ग-सौष्ठव के अनुसार पहने हुए नहीं थे।

वासवदत्ता का रथ चिर परिचित था—वहाँ के सेठ्ठिपुत्रों के लिये, वहाँ के नागरिकों के लिये।

लेकिन आज उसने एक आश्चर्य पाया। एक महान् आश्चर्य कि सारा जनपद, जिस जनपद कल्याणी के रथ की ओर आकृष्ट हो जाता था, आज उसे गतिमान दृष्टि से भी क्यों नहीं देखता है?

उसने ध्यान से उस कोलाहल के मध्य उठते हुए अस्फुट शब्दों को सुनने की चेष्टा की। उसे सुनाई पड़ा—"आचार्य भिक्षुक उपगुप्त पधारे हैं, उनका भाषण होगा, भिक्षुक उपगुप्त का भाषण अमरवाणी से कम नहीं, चलें, शीघ्र चलें।"

वासवदत्ता ने सारथी से कहा—"किसी एक श्रीमान से पूछो तो कि यह जनपद-समूह आज किधर प्रस्थान कर रहा है?"

सारथी ने एक व्यक्ति से पूछकर नम्र शब्दों में निवेदन किया—"तथागत के परम शिष्य आचार्य उपगुप्त का आज नगर में आगमन हुआ है। उन्हीं की वाणी का श्रवण करने सारा जनपद जा रहा है।"

वासवदत्ता राहुल, उस निष्कासित राहुल से जो कल नगरपति के हृदय का उद्वेग था, आज श्री हीन-धन हीन होकर कहीं अन्य नगर में भटक रहा होगा—वह उपगुप्त की अति प्रशंसा सुन चुकी थी। उसके हृदय में कुतूहल जगा, उपगुप्त को देखने का कुतूहल जगा और कुतूहल के साथ जिज्ञासा बढ़ी।

अल्पकाल के लिये मौन रह कर उसने मन ही मन कुछ निर्णय किया। फिर अपने आँचल को सुव्यवस्थित करती हुई बोली—सारथी! रथ क्षेत्र की ओर हाँको।"

सारथी ने रथ की गति द्रुत कर दी।

वासवदत्ता अचल-सी सोच रही थी—"भिक्षुक उपगुप्त कोई महान् व्यक्तित्व होगा तभी तो समस्त जनपद उसकी ओर चिम्बुक की भाँति आकर्षित हो रहा है,...अवश्य ही सौंदर्य-गुण सम्पन्न होगा तभी तो जनपद मुझे विस्मृत कर रहा है।"

रथ क्षेत्र में पहुँचा।

क्षेत्र में अपार जनपद सागर-सा उमड़ा हुआ था।

सागर की लोल लहरों की भाँति जन-समूह मौन हलचल कर रहा था।

एक उच्च वेदी पर अत्यन्त तरुण-करुण युवक खड़ा अपनी ओजस्वी वाणी में समस्त श्रोताओं में भगवान बुद्ध के निर्वाण-पथ की महत्ता का संचार कर रहा था।

सब पपीहों की भाँति उन शब्दों को पीयूष वर्षण समझ कर पान कर रहे थे, कृतार्थ हो रहे थे।

कभी-कभी कोई व्यक्ति अपने समीप खड़े व्यक्ति को धीरे से कह उठता था—"उपगुप्त की वक्तृत्व कला का सब लोहा मानते हैं।"

भिक्षुक उपगुप्त धारा-प्रवाह कहता जा रहा था—"तथागत प्रभु ने कहा है कि सत्य ही नित्य है और सब नश्वर, अतः जीवन को निर्वाण की ओर लगाओ, वृथा निंदा स्तुति कभी किसी की मत करो; क्योंकि इससे समय व्यर्थ जाता है।"—इतना कहते-कहते भिक्षुक के स्वर में घनीभूत व्यथा का मिश्रण हो गया। उनकी प्रेममयी आँखों में पश्चात्ताप बोल उठा—"तुम राग-द्वेष, निन्दा-स्तुति, सुख-दुख और जीवन-मरण आदि द्वन्द्वों की चिंता से निश्चिन्त रहो, न्याय और सन्तोष को अपना भाग्य विधाता समझो और दुख से कदापि भय मत खाओ। उसकी उतनी उपेक्षा करो कि मानो उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है।"—इतना कह भिक्षुक उपगुप्त मौन हो गया।

एक श्रोता-जिज्ञासु ने उच्च स्वर में पूछा—"भन्ते ! अहम् क्या है ?"

उपगुप्त गम्भीरता से प्रश्न का उत्तर देने लगे—"अहम् एक भ्रम है, एक भ्रान्ति है और एक स्वार्थ है। प्राणी को इससे इतना ही बचना चाहिये जितना एक प्राणी अन्य प्राणी के प्रहार से बचता है।"

जन-समूह में एक प्रकाण्ड पंडित थे। उन्होंने तीव्र स्वर में प्रश्न किया—"भन्ते ! संघों में भिक्षुणियाँ भी रहती हैं। बौद्ध धर्म के मतानुसार वे किस दृष्टि से देखने योग्य हैं ?"

इस प्रश्न के संग प्रश्नकर्त्ता पर भिक्षुक की दृष्टि स्थिर हो गई और रुक गई पैनी दृष्टि वासवदत्ता की—भिक्षुक के सुषमामय आनन पर।

वासवदत्ता ने देखा—अलौकिक मुख-मण्डल पर सात्विक तथा शान्त सौन्दर्य छलक रहा है। गुँथन की हुई मुखाकृति, दीर्घ उन्नत, वक्ष-स्थल और माँसल तन उसके पूर्ण स्वस्थ होने के प्रतीक हैं।

उसने यह भी देखा कि उपगुप्त के चेहरे के भाव जैसे कह रहे हैं कि प्रश्न का उत्तर देकर हम प्रश्नकर्त्ता की अज्ञानता पर दया कर रहे हैं।

अपने हाथ को शून्याकाश की ओर उठाता हुआ उपगुप्त बोला—"बौद्ध धर्म ने नारी को त्रिय रूप में अङ्गीकार किया है। प्रत्येक भिक्षु जो बौद्ध धर्म की दीक्षा पूर्णरूपेण ले चुका है, वह तथागत के आदेशानुसार बालिका को पुत्रीरूप, युवती को भगिनि रूप तथा स्त्री को माँ स्वरूप मानेगा। महाप्रभु का आदेश है कि प्रत्येक भिक्षुक मनसा, वाचा, कर्मणा से, इस मान्यता को माने। यदि वह इस आदेश के प्रति तनिक

भी दुष्भाव प्रकट करेगा अथवा अपने मानस में उत्पन्न करेगा, वह तथागत के संग-संग अपनी आत्मा से भी छल करेगा और अपनी आत्मा से छल करने वाला महापातकी होता है। उसे ऐहिक जीवन में कभी भी शान्ति नहीं मिलती।"

उत्तर सुनकर श्रोताओं में घोर शान्ति छा गई।

वासवदत्ता उस शान्ति की वक्ष को विदीर्ण करती हुई दर्प से मन ही मन बोली—"श्रेष्ठ भिक्षुक! किसी यौवना से तुम्हारा सम्पर्क नहीं हुआ है। युवती के रूपान्तरों से तुम अनभिज्ञ हो। ज्ञान व ध्यान की बातें करने वाले जीवन के उस भेद से भिज्ञ नहीं होते, जिस भेद के तनिक आभास मात्र से ज्ञानी, ध्यानी और त्यागी अपने अस्तित्व को विस्मृत करके एक प्रमाद में मत्त होकर पतन के गहन गह्वर में गिर पड़ते हैं।"

इतना विचार करके वासवदत्ता अपनी शिवीका से उतर कर वेदी की ओर अग्रसर हुई।

समस्त जनपद का ध्यान उस अद्वितीय सुन्दरी पर केन्द्रीभूत हो गया। मत्त गामिनी-सी शनैः शनैः डग उठाती वासवदत्ता वेदी की ओर बढ़ रही थी।

जनपद स्वतः ही उसे पथ दे रहा था।

देखते-देखते वासवदत्ता भिक्षुक के सम्मुख आ खड़ी हुई।

भिक्षुक विस्मय से वासवदत्ता की ओर देखने लगा और स्वयं वासवदत्ता उसे अनिमेष दृष्टि से इस भाँति देख रही थी जैसे वह अपनी दृष्टि द्वारा हृदय की सकल मनोभावना उड़ेलना चाहती है।

एक क्षण व्यतीत हुआ ही होगा कि भिक्षुक ने शान्त भाव से पूछा—"भद्रे ! तुम्हारी भी कोई शंका है ?"

"हाँ भन्ते !"

"बोलो ।"

"भन्ते ! यदि भिक्षुक नारी को इन्हीं रूपों में ग्रहण करके कल्याण समझता है, तो वह नारी क्या करेगी जो किसी भिक्षुक के प्रणय-बन्धन में आबद्ध हो गई है ।"

"वह नारी यदि उसके प्रणय में शक्ति का अजस्त्र स्रोत प्रवाहित हो रहा है तो वह अपने प्रणय-प्रभाव से उस भिक्षुक को पुनः साधारण गृहस्थी बना लेगी।...यदि वह युवती इस कार्य में अनुत्तीर्ण रहती है, तब उसे चाहिये कि वह अपने प्रेम में महान् अध्यात्मवाद का समावेश करके, प्रेम में वासना की ज्वाला को नहीं ; अपितु ज्ञान के उस आलोक का दर्शन करे जो प्राणी की भावना को कल्याण की परीधि तक पहुँचा दे, ताकि उस प्रेयसि का प्रेम कषाय वस्त्रधारी भिक्षुक के लिये भी ग्राह्य हो, त्याज्य नहीं ।"

"और स्पष्ट कीजिये भन्ते ?" —वासवदत्ता ने तुरन्त कहा ।

"तब उसका प्रेम संसारी प्रेम की परीधि से उठकर अपने प्रेमी को देवता स्वरूप समझने लगेगा और भिक्षुक उस प्रेम को प्रेम नहीं, एक साधना समझेगा, साधना भी अपनी नहीं, उस प्रेमिका के कल्याण हेतु भगवान तथागत् की कि इस प्रेम-अर्चिका को निर्वाण प्राप्त हो ।...... रहा भिक्षुक ! वह तो उस नारी को उसी दृष्टि से देखेगा जो उसके मत में मान्य है ।"

"और यदि नारी उससे संसारी प्रेम की अपेक्षा करे तो ?"

"यह उसकी घोर विस्मृति होगी। वह एक मरीचिका लिये अपना अन्त कर देगी—बिना कोई निष्कर्ष निकाले ही।"—इसबार भिक्षुक के लोचनों में अदम्य ज्योति दीप्त थी।

वासवदत्ता रीझ गई भिक्षुक पर, भिक्षुक के अंग-प्रत्यंग पर, उसके अप्रतिम सौन्दर्य पर।

वासवदत्ता तब कर आबद्ध करके बोली—"आप मेरा आतिथ्य स्वीकार करेंगे ?"

"क्यों नहीं !"

"मैं गणिका हूँ !"

"बौद्ध मतावलम्बी जातीय-विभेद नहीं मानते क्योंकि तथागत समदृष्टि सिद्धान्त के प्रणेता थे।"

जाते-जाते वासवदत्ता ने कहा—"आप कब पधारेंगे ?"

"कल प्रभात-बेला।"

"भन्ते ! ध्यान में रखियेगा कि मैं तत्काल आपके स्वागत हेतु तत्पर रहूँगी।" —कहकर वासवदत्ता ने अपने स्वाभावानुसार एक कटाक्ष किया। तथागत की कृपा से भिक्षुक की दृष्टि उस समय कहीं और थी अतः उस कटाक्ष की क्या प्रतिक्रिया होनी चाहिये, वासवदत्ता नहीं जान सकी।

इसके पश्चात सभा समाप्त हो गई।

जनपद में एक आन्दोलन-सा मच गया।

वासवदत्ता अपने रथ पर आरूढ़ होकर सारथी को रथ हाँकने के लिए बोली।

उसके हृदय में आज एक नवीन पाप था, छल था, मोहाकर्षण था—भिक्षुक के प्रति।

× × ×

"आजकल तुम रहस्यमयी बनती जा रही हो?" —मनु वासवदत्ता के कर-पल्लव से मधु-चषक लेते हुए बोला।

"सन्देह का कोई उपचार नहीं है प्रिये!"—चिन्ता से उन्मन वासवदत्ता ने अनिच्छा से उत्तर दिया।

"उपचार कैसे हो रूपसी?" —मनु ने हठात् कहा—"प्रीति-भोज में सम्पत्ति-व्यय करने के पश्चात भी मैं तुम्हारे शत्रु को नहीं पहचान सका और न ही तुमने मुझे बताया?"

"मनु! ये सब बातें बताने की नहीं होती, संकेत की होती है।" —वासवदत्ता की प्यार से ओतप्रोत अंगुलियाँ मनु के कुन्तलों में उलझ गईं। उसकी उन्मन पलकों में प्रसन्नता विद्युत सी दीप्त हो उठी। मनु के सन्निकट आकर वह मद्धिम स्वर में बोली—"तुमने उसे पहचाना नहीं, इसका मुझे आश्चर्य और दुःख दोनों है, लेकिन मैंने अपने उद्देश्य की पूर्ति कर ली, शत्रु को दण्ड दिला दिया, उससे प्रतिशोध ले लिया, ज्ञात नहीं, दीन-श्री हीन युवक अभी कहाँ, किस दयनीय दशा में होगा?"

मनु यह सुनकर अवाक् रह गया—"क्या कहती हो वासवदत्ता?"

"जो कहती हूँ, सत्य कहती हूँ मनु। मैं जिसको दण्डित कराना

चाहती थी, वह दण्डित हो चुका। मैं विजयोल्लास में मग्न हूँ और वह पराजय के पंकिल में पीड़ित-प्रतारित होगा, कहीं, किसी स्थान पर।"

तत्काल वासवदत्ता का व्यवहार-बर्ताव ऐसा प्रतीत होता था जैसे वह मनु से हार्दिक प्रेम करती है और आज वह मनु को अपनी वह निधि सौंपेगी जिसके लिये मनु उस माया के पीछे छाया सा लगा हुआ था—अनेकानेक दिनों से।

अपने अंक में उस पुष्प-सी सुकोमल युवती को बैठे देख कर मनु के हृदय में एक स्फुलिंग-सी ज्वलित हो उठी। ऐसी स्फुलिंग जो समय-समय पर ज्वाला का रूप धारण करके भी शमन नहीं पा सकी, लय नहीं हो सकी अपितु शान्ति की चरमोत्कर्षों तक पहुँच कर भी ऐसी तरस कर रह गई जैसी एक नवोढ़ा नव-विवाह करके सुहागरात मनाने कुसुमों से सज्जित शय्या पर बैठी अपने प्रीतम की आकुल प्राणों से प्रतीक्षा करती हो और एकाएक उसे अपने प्रीतम के संग दुर्घटना होने का समाचार प्राप्त होता हो तब वह अपने अन्तर के सुकुमार भावों का गला ही घोंट कर रख देती हो।

ठीक इस प्रकार की दशा कई बार मनु की हुई थी, विवश और आसक्त मनु की, क्योंकि वह पराजित था—अपनी दुर्बलता से।

मनु ने उसकी नीली कंचुकी से आच्छन्न दाड़िम से उभरे कुचों पर अपना कर स्पर्श किया।

एक सिहरन, एक कम्पन और एक विद्युत दौड़ गई—मनु के मन में, वासवदत्ता के तन में।

आज वासवदत्ता ने भी विरोध नहीं किया। अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार आज वह जैसे मनु को तन समर्पण करने हेतु ही निर्विरोध अभिनय कर रही है। तभी तो वह भी मनु को अपनी दोनों बाहुओं में समेटती हुई विचित्र हँसी हँस पड़ी। मनु को लगा जैसे मेघाच्छन्न नभ में संयोगवश विद्युत चमक उठी हो।

उत्तेजित मनु वासवदत्ताको अपनी ओर खींच रहा था। लेकिन वासवदत्ता का तन जड़ हो गया था, नितान्त अस्थिर।

मनु के नेत्र करुणा से बिलख रहे थे! माँग रहे थे---अपने अन्तर की विपुल वासना की तृप्त और सन्तुष्टि।

नाट्य-अभिनेत्री की भाँति विहँसी कोकिल कंठी—"तुम अत्युत्तम चतुर व्यापारी हो?"

"कैसे?"

"धन के परिवर्तन में तन का क्रय करना तुम्हारा मूलमंत्र है, कदाचित् जीवनोद्देश्य है, कौटम्बिक परम्परा है?"—वासवदत्ता अब भी विहँस रही थी।

"नहीं, नहीं, ऐसा न कहो प्रिय! मनु के हृदय में ऐसा हेय विचार उत्पन्न ही नहीं हो सकता?"

"मैं कैसे मानूँ?....जब रात्रि बेला में समस्त वातावरण पूर्ण यौवन से आलोड़ित है,....तुम्हारे ऊपर शुभ्र चन्द्र, समीप चन्द्र की मादक ज्योत्स्ना, यत्र-तत्र सर्वत्र पुलकित करनेवाली मलय-पवन! ऐसे सुन्दर क्षणों में तुम यौवन के अतृप्त आनन्द की चिर मधु स्मृति का आह्वान नहीं कर रहे हो; अपितु क्षणिक तृप्ति में संलग्न हो?"

मनु अल्पकाल तक वासवदत्ता के शब्दों पर स्तंभित रहा। एक प्रश्न भरी दृष्टि से देखते-देखते किंचित भेद भरी स्मित के साथ बोला—"वास्तव में तुम रहस्यमयी हो, पुरुषों को संकेतों पर नृत्य कराना तुम्हारे बाँये हाथ का खेल है!"

"यह तुम्हें भ्रम है।"

"भ्रम के भव सागर में मुझे प्रवाहित करने का प्रयास निष्फल है। आज मैं तुम्हारी बातों के चक्र में नहीं आऊँगा। हृदय की पवित्र साध की तृप्ति करने, मैं अमर प्रणय की अन्तिम परिधि का प्रतीक 'महामिलन' करूँगा तुमसे।"—मनु ने भी दार्शनिक से नाट्य-सम्वाद बोले। जिन्हें सुनकर वासवदत्ता की भृकुटि तन गई।—"मैं जैसे जैसे प्रश्न पूँछू, तुम वैसे-वैसे उत्तर दोगे?"

"हाँ!"—केवल मस्तक से संकेत किया मनु ने।

"पवित्र साध से तुम्हारा क्या तात्पर्य है?"

"केवल तुम्हें एक मात्र ग्रहण करना।"

"ओर अमर प्रणय से?"

"मेरा और तुम्हारा प्रणय इस सृष्टि के रंगमंच पर सदैव सम्मान की दृष्टि से देखा जाय?"—पूर्ण अपनत्व था मनु के स्वर में।

वासवदत्ता ने मनु को एक अबोध बालक समझ कर उसके मस्तक पर स्नेहानुरंजित कर फेरा—"मनु! यह मेरा गृह गृह नहीं, एक अभिनय शाला है, जहाँ कितने ही अभिनेता अभिनय करके चले गये हैं। तुम नहीं जानते कि तुम से भी मेधावी पुरुष, लक्षाधीश, श्रेष्ठिपुत्र, सामन्त मेरे चरणों की धूलि बन जाने को तरस-तरस कर चले गये। मैंने उन्हें

भी श्रीहीन करके अपने गृह का सीधा पथ दिखा दिया।...जानते हो क्यों? इसलिये कि वे नृशंस हिंस्र जन्तु थे। वे चाहते थे—मेरे सौंदर्य को विकृत करना। इस धन की पुतली के समक्ष चंद-चाँदी की मुद्रायें फक कर उसे अपने जाल में फँसाना, फिर इस तन के उज्ज्वल सौंदर्य को अपनी वासना के मर्म आघातों से निस्तेज कर देना, पर वे ऐसा नहीं कर सके।"—कहते कहते वासवदत्ता क्रोधित हो उठी।

कुछ क्षण पूर्व जो उसके मुख पर यौवन सुलभ-मादक भाव थे अब वे उस बन्दी सैनिक के तप्त उन्वेगों के रूप में बदल गये थे जिसकी परवशता पर अन्य सैनिक कृत्रिम सहानुभूति प्रगट करते हैं, पर उस सहानुभूति का फल कुछ भी नहीं निकलता है।

वासवदत्ता हुँकार रही थी—क्योंकि मैं भी अपना भविष्य सुरक्षित रखना चाहती हूँ। मैं जानती हूं कि जब यह रूप है तब तुम हो, जब यह रूप नहीं तो तुम भी नहीं।"

"ऐसा न कहो!"—मनु बोला पर उसकी आत्मा ने मनु से कहा—"तुम्हारे अन्तर की बात जान ली है इसने!

"क्यों न कहूं!"—वासवदत्ता बोली।

"इसलिये कि मैंने तुम्हारी प्रत्येक इच्छा को पूर्ण किया है।"

"और उस समय तक करते रहोगे जब तक मैं तुम्हारी केवल एक इच्छा को पूर्ण न करूँ!"

"लेकिन मेरे बारे में तुम्हें ऐसे कुविचार नहीं रखने चाहिये!"

"क्यों नहीं!"

"क्योंकि मैं तुम से आत्मिक अनुराग रखता हूँ!"

"आत्मिक अनुराग की परिभाषा भी जानते हो ?"

प्रश्न जटिल था अतः मनु आश्वस्त होता हुआ बोला—"आत्मिक अनुराग की परिभाषा यही है कि मैं तुम्हें जीवन भर तन, मन और धन से अपना कर रखूं।"

"और तुम्हारी पत्नी ?"

"पत्नी ! वह तुम्हारी तनिक बाधक नहीं बन सकती। हम सेट्ठिपुत्र हैं। विलास के सागर में आनन्द लेना हमारी परम्परा है।"

"इसलिये ही तो कहती हूँ कि तुम मेरा उपभोग कर सकते हो, ग्रहण नहीं कर सकते।"—वासवदत्ता संयत स्वर में बोली—"मनु ! यदि तुम मेरा प्यार वास्तव में पाना चाहते हो तो तुम अपनी पत्नी का परित्याग कर दो ताकि तुम्हारा प्यार अजस्र धारा की भाँति केवल मेरी लालसा की वसुन्धरा पर प्रवाहित हो।"

मनु मौन रहा। उसे वासवदत्ता पर रोष आया।—"तुम ऐसा प्रश्न कर देती हो जिसका समाधान दुर्लभ होता है।"

"सेट्ठिपुत्र ! जब सत्य नग्न होकर व्यक्ति के सम्मुख आता है तो व्यक्ति तिलमिला उठता है। कथन जितना सहज है, कार्य उतना दुष्कर है। यहाँ आनेवाला आगन्तुक अभिनय श्रेष्ठ कर सकता है, सम्वाद सुन्दर बोल सकता है पर वह ऐसी वस्तु नहीं दे सकता जिसकी मुझे आवश्यकता है।"

मनु हतप्रभ-सा वासवदत्ता की ओर निहारता रहा।

उसने देखा और देखकर समझा कि आज इस शारदीय पूर्णिमा-सी सुधामयी मोहिनी के मुख पर व्यथा का विकराल विषाद घोर आन्दोलन

कर रहा है। हृदय भयंकर विस्फोट करने वाला है, ये उसके नयन बता रहे थे।

और कुछ ही देर बाद उसने देखा कि उसकी मदरीली आँखें निर्झरणी बन गई हैं।

मनु तब झल्ला पड़ा—"आखिर तुम चाहती क्या हो ?"

"मैं चाहती हूँ—वह मन मन्दिर जहाँ राम हो और राम के साथ निर्भय सीता। मैं चाहती हूँ—वह सरोवर जहाँ प्रणय पंकज अपनी समस्त कलाओं के साथ विकसित हो और यदि उसे सूर्य रश्मियों के सिवाय कोई स्पर्श भी कर ले तो मुर्झा जाये। मैं चाहती हूँ—वह हृदय जिसकी धड़कनों से यदि मैं अपनी धड़कन मिलाऊँ तो विचारों में कोई आघात न लगे।...लेकिन मैं देखती हूँ यहाँ आनेवाले व्यक्ति मुझ जैसी लाचार नारी को अपनी पिपासा की शान्ति का एक उपाय समझते हैं।...वे समझते हैं कि इसका कुन्दन-सा तन केवल उपभोग के लिये है, हमारी उस वासना की तृप्ति है जो समय-समय पर ज्वार-सी उठती है।...इसके साथ-साथ तुम्हारे देश के धर्म, समाज और सत्ता के स्वामियों ने मुझे तो सामाजिक बना डाला पर मेरी इच्छा को सामाजिक नहीं बना पाये।"

"मनु !"—वासवदत्ता के हृदय का रोष नयन-नीर बनने लगा—"यह हृदय इतना त्रस्त बन चुका है कि कभी-कभी यह अपने बाह्य सौंदर्य से तुम्हारे देश, धर्म, समाज और सत्ता का सर्वनाश कर देना चाहता है।...विचारों में संघर्ष की भावना उठती है जो निष्कर्ष में परिवर्तित होती-होती निर्बल हो जाती है और मैं प्रतिशोध लेते-लेते रुक जाती हूँ।

पर अब रुकूँगी नहीं श्रीमन्त ! इस वैभव के चतुर्दिक आवर्तन में एक ज्वाला जलाना चाहती हूँ और इसको भस्मीभूत करके कहीं दूर पलायन करना चाहती हूँ।"

"मनु !"—वासवदत्ता के अश्रु पूर्णवेग से बहने लगे—"पथ का साधारण व्यक्ति भी मेरे प्रेम को एक अभिनय समझता है। वह कहता है—गणिका किसकी पत्नी नहीं हो सकती है ? वह प्रेम करना क्या जाने ? और मनु ! छल, मिथ्या प्रतिज्ञायें, निराधार विश्वास और प्रपंची प्रेम से अब मैं श्रान्त हो चुकी हूँ। अब मैंने सोच लिया है कि गणिका का जीवन अभिशप्त अंगारों की धारा पर चलता हुआ, अन्त में जरा के पंक में सिसकता-सिसकता समाप्त हो जाता है। तत्काल मेरे पास धन होगा तो मेरा जीवन सुखी होगा अन्यथा श्वान-मृत्यु निश्चित है।

जो मुझे कहता है—मैं तुम से प्रेम करता हूँ, उसे मैं सबसे बड़ा छली समझती हूँ।

जो मुझे कहता है—मैं तुम पर सर्वस्व अर्पण करना चाहता हूँ, उसे मैं सबसे बड़ा स्वार्थी समझती हूँ। और...."

वासवदत्ता इसके आगे कुछ बोले कि मनु उठकर द्वार की ओर बढ़ा। वासवदत्ता उसे रोकती हुई बोली—"जा क्यों रहे हो मनु ?"

"मैं कल आऊँगा !"—कह कर मनु द्वार से बाहर हो गया।

वासवदत्ता अट्टहास करके शय्या पर मदहोश-सी पड़ गई—"कृपा-पात्र मनु ! मेरे संकेतों पर नाचता है।"

नवीन प्रभात नूतन आशा लेकर आया।

आज वासवदत्ता अत्यन्त उग्रता से अपने विशाल भवन के तोरण-द्वार पर खड़ी-खड़ी उपगुप्त की प्रतीक्षा कर रही थी।

उसकी आँखें बार-बार उससे एक प्रश्न कर बैठती थीं कि उपगुप्त का सौन्दर्य अद्वितीय है न !......हाँ, अवश्य है।

दो दंडपांशुल आज नवीन वसन पहने बड़ी सतर्कता से पहरा दे रहे थे।

भवन की समस्त परिचारिकायें आज स्फूर्ति से भवन को और भवन के प्रत्येक कक्ष को सज्जित करने में तन्मय थीं।

समस्त कक्षों में से सुगन्धित पवन आ रहा था।

तोरणद्वार पर दो लावण्यमयी युवतियाँ पुष्पों के थालों में पुष्प सज्जित किये स्वागतार्थ खड़ी थीं। इन दो युवतियों के आगे दो अन्य युवतियाँ खड़ी थीं, जो अतिथि के आगमन पर अपने आँचलों से पथ की धूलि झाड़ेंगी। इसके साथ कई और परिचारिकायें थीं जो अपने-अपने कर्त्तव्यों का पालन करने हेतु अत्यन्त तत्पर दीख पड़ रही थीं।

नियत समय पर प्रतिहार ने आकर सम्वाद सुनाया कि बौद्ध-भिक्षुक उपगुप्त पधार गये हैं। वे नितान्त एकाकी हैं।

सम्वाद सुनते ही वासवदत्ता ने दण्डपांशुलों को तथा परिचारिकाओं को सावधान किया और स्वयं द्रुतगति से अपने शयन-कक्ष में आ गई।

गर्विता नायिका की भाँति आज उसने पल भर के लिये दर्पण में अपने मुख को देखा—स्वयं अपने पर मुग्ध हो गई। उसके गौरवर्ण

पर स्वर्णिम आभा ऐसे छिटक रही थी जैसे अर्ध-विकसित चम्पे के कुसुम पर। उसके काली घटा की भाँति उमड़े घने कुन्तल उसके स्निग्ध कन्धों पर लहरा रहे थे। प्रतीक्षा-रत खञ्जन से नयन श्रृङ्गार के अनुराग से मस्ती बिखेर रहे थे।

किंचित मोहक स्वर में वासवदत्ता अपने आप बोली—"यदि सौन्दर्य का आदान-प्रदान सौन्दर्य हो जाय तो कितना श्रेष्ठ हो!"

तोरण द्वार के दण्डपांशुल ने भिक्षुक के आगमन का समाचार उच्च स्वर में सुनाया।

वासवदत्ता द्रुतगति से द्वार की ओर भागी।

भगवान बुद्ध के परम स्नेह-पात्र शिष्य उपगुप्त ने कौषाय वस्त्र पहन रक्खे थे। भवन प्रवेश करते ही वासवदत्ता ने उसके चरण स्पर्श किये। शैक्ष उपगुप्त ने उसे आशीर्वाद दिया।

वासवदत्ता को विदित हुआ—इस दिव्य पुरुष की चरण-रज से यह भवन एक अलौकिक आभा से आलोकित हो गया है। इन निर्जीव पाषाणों में एक अदृश्य जीवन सञ्चारित हो गया है। उसने हाथों से भवन में प्रवेश करने का संकेत किया।—उपगुप्त को।

महाप्रभु के कर्त्तव्यपरायणी वीतरागी संन्यासी के चरण रखने के पूर्व दोनों परिचारिकाओं ने उपगुप्त को पुष्प माला पहनाना चाहा। भिक्षुक ने हाथ से रोकने का संकेत कर के कहा—"भिक्षुक के लिये अपराह्न का भोजन, नृत्य-गीत, मालादि श्रृङ्गार, महार्घ-शय्या तथा सोना-चाँदी सब त्याज्य हैं।"

चरण भीतर की ओर बढ़ते गये। दोनों परिचारिकायें अपने-अपने आँचलों से पथ धूलि स्वच्छ कर रही थीं।

केलि भवन के मध्य एक अत्यन्त सुन्दर चन्दन की वेदी थी। उस पर मृगछाला आछन्न थी।

वासवदत्ता के अनुरोध पर उपगुप्त ने आसन ग्रहण किया। उसके द्वारा आसन ग्रहण करने के पश्चात् वासवदत्ता किंचित स्मित के संग बोली—"भिक्षुक के स्वागत में किसी प्रकार की त्रुटि तो नहीं है?"

अपने करुण नेत्रों को ऊपर की ओर उठा कर उपगुप्त बोला—"जिनकी लालसा तृप्त है, वे किसी भी कार्य में त्रुटि नहीं निकालते।"

"तो मैं समझूँ कि भिक्षुक ने मेरा आतिथ्य-सत्कार हृदय से पसन्द किया?"

"निस्सन्देह!"

"मैं अपना अहोभाग्य समझती हूँ।"—वासवदत्ता ने अपना आँचल एक बार तन पर से उठाकर फिर कटि-प्रदेश के चारों ओर से कस लिया जिससे अंग-प्रत्यंग के उत्तेजित रूप का प्रदर्शन होने लगा।

उपगुप्त के शून्य हृदय में नूतन भावों का संग्राम होने लगा। उसका मन उद्वेलित होने लगा, तपस्या विचलित होने लगी। अतः एक क्षण मौन रहकर उसने महाप्रभु का ध्यान लगाया—"परित्राण धर्मदेशना, परित्राण धर्मदेशना।"

मन्त्र के स्मरण से उसके हृदय के विकार समाप्त हो गये। तब उसने निर्मल मन से पूछा—"भद्रे! कल के वाद-विवाद से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि तुम्हें किसी भिक्षुक से प्रणय हो गया है?"

जैसे नीरवता में अकस्मात नूपुर बज उठते हैं, ठीक उसी प्रकार बोली—"हाँ देव! एक ऐसे कर्त्तव्यनिष्ठ भिक्षुक से मेरा प्रेम-सम्बन्ध हो गया है जिसकी मधु स्मृतियों का आन्दोलन मेरे जीवन के हर क्षण में होता है और होता रहेगा। पर........!"

"यह बात है तो तुम्हारा प्रयत्न विफल होगा भद्रे! अपने को परिवर्तित करने का प्रयास करो। अप्राप्य वस्तु के पीछे भागना बुद्धिमानी नहीं। अमूल्य जीवन को निरुद्देश्य व्यतीत करके अल्पकाल के पश्चात तुम्हें केवल पश्चाताप में ही जलना पड़ेगा।"

"नहीं भिक्षु! मैं उसे प्रेम-सिञ्चित कर से स्पर्श कर सकती हूँ।"—कह कर वासवदत्ता ने उपगुप्त का हाथ अपने हाथ में ले लिया—"पर वह मुझे किस भावना से स्पर्श करने देता है, इससे मैं अज्ञात हूँ।"

इन्द्रिय विजित भिक्षुक के चेहरे पर उस स्पर्श से तनिक भी परिवर्तन नहीं आया। उसके नेत्र अचंचल थे जैसे पाषाण। वह शान्त था जैसे शून्य स्थान। वह नेत्र मूँद कर संयत स्वर में बोला—"मन पाप का आगार है, यदि इस आगार को श्रेष्ठ व सद्विचारों से पूर्ण कर लिया जाय तो कलुषता को प्रश्रय पाने का स्थान ही नहीं मिलेगा।"

भिक्षुक ने जब वाक्य समाप्त किया तब वासवदत्ता ने उसकी ओर निहारा। चौड़े भाल पर दिव्य आलोक दीप्त था। उस आलोक के कारण उसका यौवन और तन स्वर्गीय देव-सा निश्छल लगने लगा था। वासवदत्ता उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो गई।

विमूढ़ सी वह भिक्षुक के कपोलों को सहलाने लगी।

भिक्षुक जड़वत् रहा, गति-हीन रहा।

तपाक से बोला—"स्पर्श करने के पूर्व स्पर्श की भावना पर प्रकाश डालो भद्रे !"

"भावना वही है, जिसकी साधना आज मेरे मानस-मन्दिर में घोर आन्दोलन कर रही है ।"

"उस साधना-पथ के अन्त के सत्य को मैं जानना चाहता हूँ !"

"कार्य परिणाम का द्योतक है । अतः भिक्षुक निर्विरोध रहो और मुझे अपना कार्य करने दो !"

"नहीं, मैं इस बात का अभ्यस्त नहीं कि सार को असार समझूँ और असार को सार, अस्पष्टता के रहस्य में बद्ध होना मेरा लक्ष्य नहीं है अतः जो सत्य है, उससे मैं पहले भिज्ञ होना चाहता हूँ ।"

"तो सुनो ।"

"........।"—निर्वाक हो देखता रहा भिक्षुक वासवदत्ता को और वासवदत्ता उसके नयनों में अपने नयन गाड़ कर-कम्पित स्वर में बोली—"भिक्षुक यह स्पर्श मेरे प्रणय का प्रथम चरण है !"

"तुम्हारे प्रणय का !"—भिक्षुक हठात् वेदी से उठ गया ।

"हाँ भिक्षु ! संसार को अपने सौन्दर्य से पराजित करनेवाली यह सुन्दरी तुमसे प्रणय-दान माँगती है ।"

"प्रणय !"—उपगुप्त हँस पड़ा—"भिक्षुओं से भिक्षा की माँग सर्वथा अनुचित है । माँगना उसी से चाहिये जिसके पास कुछ देने को हो ।"

"मैं उसी से माँग रही हूँ जिसके पास सर्वस्व है—कुबेर का भंडार और दरिद्र की दया ।"—वासवदत्ता उसकी ओर बढ़ी । उपगुप्त सत्वरता से बोला—"मुझे भिक्षा दो, मैं गमन करना चाहता हूँ ।"

"भिक्षा लोगे तुम ?"—विचित्र भंगिमा थी सुन्दरी की।

"आतिथ्य-सत्कार ही इसीलिये स्वीकार किया था।"

"फिर भिक्षा-पात्र बढ़ाओ।"

"लो।"—भिक्षुक का पात्र बढ़ा।

वासवदत्ता के युग्म-कर पात्र पर विस्तृत हो गये।

विस्मय-विमूढ़ भिक्षुक ने वातुल वामाक्षी को देखा—"भद्रे! भिक्षा प्रदान करनेवाले हाथ रिक्त क्यों ?"

"रिक्त ?"—वारङ्गना वासवदत्ता ऐसे बोली जैसे इस शब्द में उपहास है—"कदाचित् संन्यासी को दृष्टि-भ्रम हो गया है ?"

"मुझे दृष्टि-भ्रम हो गया है।"

"तभी तो मेरे परिपूर्ण हाथों को रिक्त बता रहे हो ?"

"परिपूर्ण!……ओह! अपने करों के आभूषण तुम मुझे भिक्षा में देना चाहती हो ?"

"नहीं, आभूषण तो तुम्हें प्रत्येक सेट्ठिपुत्र और सामन्त भी दे सकता है।"

"तो ?"—नग्नता की भाँति चमक उठा विस्मय भिक्षुक की आँखों में।

"भिक्षुक! इन रिक्त हाथों में एक दुर्लभ वस्तु है यदि तुम्हारी आत्मा उसे पहचान सकती है तो पहचानो।"

भिक्षुक ने चंद पल के लिये अपने नेत्र मूँद कर विचारा।

"क्या सोचा ?"

"रिक्त हाथों में अदृश्य वस्तु वासना है, क्यों ठीक है न भद्रे ?"

"वासना नहीं, प्रणय,....केवल प्रणय ही नहीं, प्रणय से परिपूर्ण हृदय भी।"

"हृदय?"

"हाँ, मैं तुम्हें इस हृदय का सम्राट बनाना चाहती हूँ।"

"उस सम्राट की प्रजा कौन बनेंगे?"

"प्रजा! हमारे हृदय के वेग, आवेग और उन्वेग, लालसायें, भावनायें, आशायें, तृष्णायें ये सभी ही हमारी प्रजा बनेंगे। तुम्हारे सम्राट होने पर विभुना विप्लाव की भाँति हमारे जीवन में उद्वेलित होगी। बोलो भिक्षु! स्वीकार करते हो?"

"क्यों नहीं!"

"भिक्षु।"

"हाँ वासवदत्ता, मैं तुम्हारे प्रणय-दान को स्वीकार करूँगा।"

"इन कर्णों को विश्वास नहीं होता?"

"मैं भी असत्य भाषण नहीं करता?"

"तो फिर मैं...?"

"लेकिन अभी नहीं, समय के पूर्व मैं किसी का भी प्रणय-दान स्वीकार नहीं कर सकता।"

"तो फिर कब आओगे यहाँ?"

"एक वर्ष पश्चात।"

"प्रतीक्षा करूँ?"

महाप्रभु के शिष्य मिथ्या-भाषण नहीं करते। किसी को विश्वास देकर विश्वासघात नहीं करते।"

"बैठो भिक्षुक।"—वासवदत्ता ने वेदी की ओर संकेत किया—"भोजन से निवृत होकर एक बार मेरा नृत्यावलोकन तो कर लो।"

"नहीं भद्रे!"

"क्यों?"

"तुम्हारे आतिथ्य का समय समाप्त हो गया। अब मुझे अन्य स्थान पर भाषण देने जाना है।"—इतना कह कर उपगुप्त तोरण द्वार की ओर अग्रसर हुआ। पीछे थी वासवदत्ता। अपने मन के धैर्य के लिये जाते-जाते भिक्षुक से पूछा—"प्रतिज्ञा विमुख तो नहीं होओगे?"

"विश्वास रखो।"

"चरणों में प्रणाम।"

"कल्याण हो।"

तत्पश्चात भिक्षुक उपगुप्त के अधरों पर गूँज पड़ा—

बुद्धं सरणं गच्छामि

धम्मं सरणं गच्छामि

सघं सरणं गच्छामि

× × ×

मनु ने गृहलक्ष्मी के प्रार्थना भरे शब्दों को अनसुना कर दिया।

क्रोध में रौद्र बना चरणों में धराशायी गृहलक्ष्मी पर मनु ने तीव्र पदाघात किया। जन्मजात संस्कारों में पली 'पति परमेश्वर' के सिद्धांत की पोषिका गृहलक्ष्मी पदाघात खाकर तिलमिलाई नहीं अपितु करुण-क्रन्दन करने लगी—"मेरे प्रभु! मुझे क्षमा कर दीजिये कि मैंने आपसे धृष्टता की। मैंने आपका विरोध करते समय बस इतना ही सोचा था

कि आप मेरे पति हैं, केवल पति, न कि एक आभिजात्य वर्ग के प्रतिनिधि, एक श्रेष्ठिपुत्र, एक आर्यपुत्र जो विवश अनार्यों की कन्याओं को क्रय करके उसका स्वतंत्रता से उपभोग भी कर सकते हैं।"

गृहलक्ष्मी की प्रार्थना मनु ने स्वीकार कर ली। उसका क्रोध शान्त हो गया।

बात यह थी कि आज प्रातःकाल मनु की निद्रा और दिन की अपेक्षा अधिक काल से भंग हुई थी। नगर में प्रवासी व्यवसाइयों का आवागमन होना प्रारम्भ हो गया था। गृहलक्ष्मी भी भगवद्-भजन में निमग्न थी। तभी दंडपांशुल ने आकर कहा—"श्रेष्ठिवर से एक प्रवासी व्यापारी भेंट करना चाहता है।"

गृहलक्ष्मी ने दंडपांशुल को कहा—"उनको अतिथिशाला में ठहराओ और कहो कि श्रेष्ठिवर अभी सो रहे हैं।"

दंडपांशुल चला गया।

गृहलक्ष्मी पुनः भगवद् भजन में तन्मय हो गई।

पाँच पल बीते ही होंगे कि दंडपांशुल ने आकर पुनः निवेदन किया—"वे श्रेष्ठिवर से अभी ही भेंट करना चाहते हैं, कहते हैं कि उनका उनसे एक अत्यावश्यक कार्य है।"

गृहलक्ष्मी ने दंडपांशुल की बात सुनकर अत्यन्त संयत स्वर में कहा—"आगन्तुक से निवेदन करके कहो कि श्रेष्ठिवर की विशेष आज्ञा है कि जब वे [illegible] में हों, उन्हें कोई नहीं जगाये, इसीलिये उन्हें प्रतीक्षा करनी अ[illegible]र्य है"

दंडपांशुल चलने को उद्यत हुआ ही था कि देविका ने आकर कहा—"श्रेष्ठिवर जग गये हैं, वे शौचादि से निवृत होने भी चले गये हैं।"

"उन्हें जाकर यह सम्वाद तो सुना दो कि प्रवासी अतिथि आपसे भेंट करने को व्यग्र हैं।"

"जो आज्ञा!"—देविका चली गई।

अल्पकाल के पश्चात प्रवासी व्यापारी ने जो वेषभूषा से दक्षिणांचल जान पड़ता था, मनु से भेंट की।

सर्वप्रथम व्यापारी ने संक्षेप में अपना परिचय दिया। अपनी विशेषताओं और अनुभवों पर प्रकाश डाला तब मनु से अपने व्यापार की बात करने लगा—"देखिये श्रेष्ठिवर! मेरे पास एक अत्यन्त लावण्य-मयी युवती क्रय के लिये है और मैंने सुना है कि श्रेष्ठ वस्तु आपके यहाँ सहजता से क्रय की जा सकती है।"—इतना कह व्यापारी ने चतुर्दिक दृष्टिपात किया।

"हाँ मैं दासियों का क्रय अवश्य करता हूँ पर वस्तु श्रेष्ठ होनी चाहिये; वह भी सभी दृष्टिकोण से।"—मनु की दृष्टि व्यापारी के चरणों पर टिकी हुई थी।

व्यापारी मनु के भावों को ताड़ता हुआ बोला—"श्रेष्ठ वस्तु ही श्रेष्ठ व्यक्तियों के पास लाई जाती है श्रेष्ठिवर, आप केवल एक दृष्टि भर देख लीजिये।"

"अच्छा।"

"देखिये, कथन कुछ और होता है और प्रत्यक्ष कुछ और। अतः मेरा तो आप से सानुरोध है कि आप दासी को देख ही लीजिये।"

"जैसी आपकी इच्छा ।"—मनु के भाल में बल पड़ गये ।

व्यापारी भवन से बाहर गया ।

तोरण द्वार से पन्द्रह वर्षीय एक युवती ने प्रवेश किया । युवती साधारण गौरवर्ण की थी । इतनी गौरवर्ण की नहीं कि जितनी उत्तराखंड की युवतियाँ हुआ करती हैं । तो भी युवती दर्शनीय थी ।

यौवन के उठते उद्याम के कारण उसका अंग-प्रत्यंग ऊषाकाल की सुषमा लिये अरुणिम था । अंग सौष्ठव में दक्षिणी भारतीय स्त्रियों की मांसलता पूर्णतया विद्यमान थी । नयनों की मादकता भय की आकुलता के कारण लुप्त हो गई थी ।

मनु ने लोलुपता भरी दृष्टि से उस युवती को देखा । जिह्वा को साँप के फन के भाँति कई बार अधरों पर दौड़ाया । तब मनु के ऐश्वर्य सम्पन्न मन ने कहा—"यौवन है,......पूर्ण यौवन ।"

और युवती अज्ञात भयभीत कल्पना से किंकर्त्तव्य-विमूढ़ सी खड़ी थी ।

मनु ने व्यापारी की ओर दृष्टि की । व्यापारी ने उसके तात्पर्य को तुरन्त समझा—"युवती अस्पृश्य है श्रेष्ठिवर, आपकी सेवा तन-मन धन से करेगी ।"

मनु ने मन-ही-मन दोहराया—मन से, धन से, तन से ।......मन से कदाचित् न करे क्योंकि उस पर मेरा अधिकार नहीं हो सकता, धन विवश के पास है ही कहाँ ?......और रहा तन,......कुन्दन-सा तन मेरा है, यदि यह तन से ही मेरी शुश्रुषा करती जाये तो जीवन......?"

"क्या सोचने लगे श्रेष्ठिवर ?"

"कुछ नहीं, इसका अर्थ ?"

"श्रेष्ठिवर की इच्छा पर ?"

"तो आप प्रस्थान कीजिये, अल्पकाल के उपरान्त आप यहाँ आकर अपना मूल्य ले जाइयेगा लेकिन युवती से कह दीजिये श्रेष्ठिवर कि अवज्ञा मृत्यु का आह्वान बन सकती है।"

प्रवासी व्यापारी युवती के निकट गया—"बाले ! आज से तुम्हारे स्वामी श्रेष्ठिवर मनु हैं। सेठ्ठिपुत्र मनु की आज्ञा का पालन तुम्हारा धर्म है। तुम एक दासी हो, अतः एक दासी को अपने कर्त्तव्य को कदापि विस्मृत नहीं करना चाहिये।"

बाले ने अपना मस्तक झुका दिया।

मनु ने परिचारिका देविका को बुलाकर आज्ञा दी—"इसे स्वच्छ वस्त्र पहना कर एवं पुष्पों से सज्जित कर के आज अपराह्न काल हमारे केलि-भवन में पहुँचा देना।......देखो ! शृङ्गार में किसी भी अभाव का भास न हो।"

जब गृहलक्ष्मी ने यह समाचार सुना तो उसका रोम-रोम दहक उठा, तड़प उठा। मन में विचार दामिनी की भाँति कौंधने लगे—"अपने को सभ्य-शिष्ट और सद् कहनेवाले आर्यपुत्र क्रीतदासियों के सँग कितना अमानुषिक व्यवहार-बर्ताव करते हैं कि मानवता तक काँप उठती है, संकोच से गड़ जाती है।"

आहत भुजंगिनी-सी फुत्कारती हुई गृहलक्ष्मी मनु के निकट गई और अधरों को दाँतों से काटती हुई बोली—"प्रभु ! यह कैसा अत्याचार ?"

"अत्याचार ?"—हठात् मनु बोला—"कौटुम्बिक परम्परा को तुम अत्याचार कहती हो, आश्चर्य है ?"

"यह परम्परा किसी के प्राण ले बैठेगी ?"

"मूढ़ता पर एक प्राण क्या ?—सहस्र प्राण भी मिट सकते हैं। तुम! तुम ऐसे कार्यों का विरोध ही क्यों करती हो जो हमारे लिये सदैव अपेक्षणीय रहे हों, जिन्हें तुम रोकने में सर्वथा असमर्थ हो।"

"इस अपेक्षणीयता को आपको रोकना ही पड़ेगा। मैं आपकी पत्नी हूँ और एक पत्नी अपने सामने इतना अनाचार होते कैसे देख और सह सकती है ?"

"इसका तात्पर्य तो यही हुआ कि तुम हमारी आज्ञा की अवज्ञा करोगी ?"

"सर्वथा।"

"परिणाम ?"

"प्रभु के हाथ है।"

"जानती हो, मेरे मध्य प्राचीर बनकर आनेवाले का विनाश निश्चित है।"—मनु का रोष तीव्र हुआ—"भला इसी में है कि भारतीय पत्नी बन कर रहो, पति को परमेश्वर तथा उसके वचनों को ईश्वरीय आज्ञा समझो।"

मनु इतना कहकर के गृहलक्ष्मी को घूरता-घूरता अतिथि-शाला से बाहर हो गया।

गृहलक्ष्मी भी अपने कक्ष में आकर बैठ गई। देविका को कम्पित स्वर में पुकारा—"देविका।"

"आज्ञा ।"—देविका ने नत होकर कहा ।

"जाओ, बाले को यहाँ ले आओ ।"

"जो आज्ञा !"—कह कर देविका जाने को प्रस्तुत हुई कि मनु का निर्मम स्वर सुनाई पड़ा—"उसके आमन्त्रण की कोई आवश्यकता नहीं है । तुम उसका शृङ्गार करो ।"

"शृङ्गार या संहार !"—गृहलक्ष्मी बोली ।

"इतना साहस है तुम में !"

"जब नारी अपनी शालीनता का त्याग करके रणचण्डी का रूप धारण करती है तो........!"

"देविका तुम खड़ी-खड़ी क्या देख रही हो,......जाओ ।"—मनु की आज्ञा पर देविका भयभीत-सी चली गई ।

"तो !"—मनु प्रहार करने हेतु गृहलक्ष्मी की ओर बढ़ा ।

गृहलक्ष्मी भयभीत विस्फारित नेत्रों से देख रही थी ।

"तो मैं ही तुम्हें सदैव के लिये मिटा दूँगा ।"—मनु गर्जा ।

"मेरे प्रभु !"

"प्रभु सम्बोधित करनेवाली दुराचारिणी ! पति की आज्ञा की अवज्ञा करने पर तुम्हें संकोच नहीं आया ।......निर्बुद्ध कहीं की, भारतीय नारी होकर भारतीयता का त्याग करना तुम्हारी हेयता का प्रतीक नहीं !......स्मरण करो उस सती नारी की कथा को जो अपने अपंग पति को कन्धों पर बिठा करके प्रत्येक रात्रि को गणिका के यहाँ ले जाया करती थी और तड़के पुनः लाती थी ।.......और एक तुम हो जो उसी

के वंशज को आमोद-प्रमोद के लिये वर्जित करके उसके स्वाभिमान पर आघात करती हो।"

"पर......?"

"पर से किसी भी सुफल की प्राप्ति नहीं हो सकती। यदि तुम इस भवन में सुखी जीवन व्यतीत करना चाहती हो तो चरण-दासी बन करके रहो अन्यथा मनु का कोप तुम जानती ही हो।"

आतंकित गृहलक्ष्मी मनु के इस भयानक निश्चय से विचलित हो गई। पति परमेश्वर के चरणों में पड़कर क्षमा याचना माँग ली और नारी-शोषक मनु अपनी विजय पर गर्वोन्नत हो गया।

अपराह्न काल!

केलि भवन!!

क्रीतदासी बाले सुमनों से सज्जित किन्नरी-सी लग रही थी।

सारा केलि-भवन सुगन्धित था।

देविका ने अन्तिम बार बाले के भाल पर बिन्दिया लगाते हुए कहा—"षोडसी! आज तुम्हारे जीवन का नवीन अध्याय प्रारम्भ होगा, किस भाँति होगा, भगवान जाने!"

इतना सुनते ही बाले के नयन भयांतांकित हो गये। अज्ञात आशंका से उसका रोम रोम थर्रा उठा। कम्पन मयी दृष्टि से उसने देविका को देखा और देविका के अधरों पर विडम्बना की स्मित धावित हो गई।

देविका बाले को और बाले देविका को रहस्यभरी दृष्टि से देखते रहे और देखते-देखते देविका केलि-भवन से बाहर हो गई।

देविका के बाहर होते ही मनु ने प्रवेश किया।

आज मनु ने अपने तन और वसनों पर सुगन्धित द्रव्यों का अनावश्यक प्रयोग किया था। जिसके कारण अत्यन्त जोर का सौरभ उठ रहा था। नयनों में आवेगता का सँघर्ष था।

एक पल बाले को क्षुद्धित दृष्टि से देखकर, मनु ने मधु-चषक की ओर संकेत किया—"बाले! मुझे मधु से चषक भर कर दो।"

बाले हतप्रभ-सी हो गई।

तीव्र दृष्टि से उसने मनु को देखा उसके नयनों के भाव स्पष्ट रूप में ये थे कि यह पेय नितान्त हेय है। इसके विषम आवर्तन में आवेष्ठित प्राणी का उद्धार असम्भव है। लेकिन जिह्वा पर सरस्वती नहीं आ सकी। वह मूक खड़ी रही—स्पन्दन हीन।

"मेरे कथन पर तुमने ध्यान दिया?"

"हाँ श्रीमन्त!—बाले ने मधु को मधु-चषक में उड़ेला और मनु को देने के लिये उसकी ओर अग्रसर हुई।

मनु ने मधु चषक ले लिया—"सुन्दरी! मधु मधुबाला के कर से पेय करने में ही प्रियकर लगता है और वह अपना पूर्ण प्रभाव भी करता है अतः प्यार से पिलाओ।"

बाले की आकृति पर विक्षेपण नर्तन कर उठा।

मनु चषक लेकर शय्या पर अर्ध शायित हो गया।

कम्पित कर में चषक की मधु हिल रही थी। मनु ने एक पल उसे ध्यान से देखा—"दूर क्यों खड़ी हो, निकट क्यों नहीं आती, जानती नहीं, हम तुम्हारे स्वामी हैं।"

बाले निस्पन्द-सी मनु की शय्या के सन्निकट आई।

मनु ने चषक वाला हाथ बाले के मुँह की ओर बढ़ाया और उसका दूसरा हाथ बाले की कटि प्रदेश के चतुर्दिक व्याल की भाँति लिपट गया।

"पीओ न बाले?"

"नहीं।"

"क्यों?"

"यह पेय पतनोन्मुखी है?"

"एक किङ्करी के लिये पतन-उत्थान दोनों ही बराबर है।"

बाले मौन हो गई।

कटि प्रदेश वाला हाथ और जकड़ा।

बाले का आनन विश्री हो गया।

पुरुष की पिपासा मधु की आहुति पाकर पैशाचिक क्षुद्धा-सी भयंकर हो गई।

नारी काँप उठी।

पुरुष की उत्तेजना बढ़ती गई।

नारी, क्रीतदासी, निर्विरोध रही।

पुरुष ने नारी के अधरों को अपने अधरों से डँसना चाहा।

नारी की आत्मा में तब प्रभंजन उठा।

पुरुष शंकित हो गया पर उसके उर के प्रबल उद्दाम काम ने उसे और उकसाया।

नारी विद्रोहिणी बन गई।

पुरुष ने प्रमादियों-सा अट्टहास किया।

नारी ने अपने सतीत्व की रक्षा हेतु भागने का प्रयास किया।

पुरुष ने नारी के चतुर्दिक प्राचीरें खड़ी कर दीं।

नारी विवश हो गई।

करुणा का आँचल उसने पुरुष के समक्ष विस्तृत कर दिया।

पर पुरुष निर्दयी, निर्मोही, और निर्मम निकला।

नारी को नोचने के लिये वह आतुर हो उठा।

परवश नारी ने प्रभु को पुकारा --अपने परित्राण के लिये।

प्रभु नहीं आया।

जीवित प्राणी को दया आवे तो उस पाषाण को भी आये जो मन्दिर में रहकर मन्दिर के व्यभिचार, अनाचार और अत्याचार को नहीं रोक सकता।

लेकिन नारी ने बार-बार प्रभु को पुकारा।

पर प्रभु एक बार भी नहीं आया।

अन्त में नारी विवश हो गई।

पुरुष ने नारी को दबोच लिया।

दानवता के रक्त सने हाथों से मानवता छली गई।

बाले का अप्रतिम यौवन मनु की पिपासा का भोजन बन गया।

× × ×

शयनकक्ष में जैसे ही दीपिका ज्वलित हुई वैसे ही वासवदत्ता ने शय्या पर सोते हुए निश्वाँस छोड़ा।

उसका निश्वास इस बात का प्रतीक था कि सुन्दरी को किंचित

परिताप है। परिताप क्या था प्रणय-परिभूत वासवदत्ता के मन को शान्ति नहीं मिल रही थी।

संध्या पर रजनी का अधिकार हो गया था।

वासवदत्ता शय्या पर निढाल थी।

परिचारिका तिलोत्तमा ने प्रणत होकर पूछा—"आप भोजन कब करेंगी।"

वासवदत्ता ने कहा—"आज मैं भोजन नहीं करूँगी।"

तिलोत्तमा मुँह लगी थी अतः तुरन्त बोली—"क्यों ?"

"सत्य भाषण करते भय लगता है। कदाचित् तुम भी मेरा विडम्बना भरा परिहास कर बैठो।"—प्रश्न भरी दृष्टि तिलोत्तमा पर स्थिर थी।

"नहीं, भृत्य अपने स्वामी संग ऐसी अशिष्टता थोड़े ही कर सकता है ?"

"तिलोत्तमा! उपगुप्त की दिव्य आकृति मेरे मन में बस गई है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है जैसे उसके बिना यह सौन्दर्य सारहीन है।

"तो फिर ?"

"उसे अपने प्रणय बन्धन में बद्ध करके उसको साधना च्यूत कर दूँ। जानती हो, उसने मेरी, मेरे अनुपम रूप यौवन की उपेक्षा की है अतः उसे मादक दृष्टि से आहत करके अपना परमप्रिय बना लूँ।"

"ऐसा होना असम्भव है।.......क्योंकि वासना ने त्याग पर आज तक विजय नहीं पाई।"

"तुम तो सहज स्वभाव की हो। राजर्षि विश्वामित्र का घोर तप मेनका के सौन्दर्य व स्वर पर इस प्रकार विमोहित हुआ जिस प्रकार अहि

बीन पर। शकुन्तला के अतुलनीय रूप पर आसक्त राजा दुष्यन्त अपनी अधीरता को अल्पकाल के लिए नहीं रोक सके और उन्होंने तुरन्त शकुन्तला से गन्धर्व विवाह किया। तुम क्या जानो तिलोत्तमा, और तो और, नारी-सौन्दर्य ने महर्षि नारदजी को भी बानर बनाकर नचा दिया।" —इतना कहकर वासवदत्ता सव्यंग हँसी हँस पड़ी। पलकों को समावार्थ झँपाया जैसे वह तिलोत्तमा से पूछना चाहती है कि अब तुम क्या उत्तर दोगी ?

उसे उत्तर न देते देखकर वासवदत्ता पुनः दंभ से बोली—"इन पुरुषों के पतन की कथा न सुनो तो ही भला है।......अभी तो मैं तुम्हें नारी पर शलभ बनने वाले उन्मत्त पुरुषों की रामायण सुना रही थी ; अब तनिक उन नर पिशाचों की कथा सुनो—महान् मेधावी होते हुए भी जिन्होंने पाशविक कुकृत्य किये। ऐसे कुकृत्य जिन्हें आगामी पीढ़ी क्षमा नहीं कर सकती। अपितु उन महान् पुरुषों की समस्त महत्ता को समाप्त करके विस्मृति के गर्त में ढकेल देगी।

तिलोत्तमा ! तुम चन्द्रदेव को तो जानती हो। रात्रि में समस्त संसार के प्रकाश-दाता। यही चन्द्रदेव अपनी गुरु पत्नी अहिल्या पर आसक्त हो गये। उनके पति का रूप धारण करके प्रेमाभिनय करने आये। पाप प्रकट हो गया। चन्द्रदेव अभिशाप से पीड़ित कलंकमय हो गये। निर्दोष अहिल्या को पति-अभिशाप ने प्रस्तर का बना दिया।"

"आचार्य बृहस्पति ने अपनी गर्भवती भाभी के साथ बलात्कार किया। ब्रह्मा ने अपनी पुत्री के साथ व्यभिचार किया।...एक नहीं, कितनी ही ऐसी घटनायें हैं जो मेरी आँखों के आगे नर्तन करती है।"

"अब तुम्हीं बताओ न, ऐसे पुरुषों का तप खंडन तथा मर्यादा भंग करने में कितना काल लगेगा ?........पाप प्राणी को अपनी ओर तुरन्त आकर्षित कर लेता है।"

तिलोत्तमा एक अभिज्ञ श्रोता की भाँति निश्चल बैठी रही, सुनती रही।

"मुझे ही देखो न!"—वासवदत्ता ने अपने आपको संकेत किया—"मेरे सात्विक जीवन के समस्त साधन छीन लिये गये हैं। गृहलक्ष्मी को हाट की रानी बना दिया है। सेवा करके सृष्टि का संचालन करने वाली को यौवन विक्रय करने के लिये विवश कर दिया है।"

वासवदत्ता के कमलनेत्र तप्त अंगारों की भाँति दहक उठे।

तिलोत्तमा निस्सार उश्वांस छोड़कर गमन करने को उद्यत हुई जैसे उसे इन बातों से कोई प्रयोजन नहीं, तनिक भी लगाव नहीं।

उसके चले जाने के बाद वासवदत्ता भी किसी पीड़ा में जलती हुई जागृतावस्था में शय्या पर पेट के बल सो गई।

अभी तन्द्रा के मधुर झोंको ने उसे सहलाया ही था कि तिलोत्तमा आई—"श्रीमन्त मनु पधारे हैं।"

वासवदत्ता के लोचन उपेक्षा से वक्र हो उठे—"जाकर कह दो कि वासवदत्ता नहीं है। वह जल विहार करने के लिये....।"—वासवदत्ता अपना वाक्य पूरा करे, इसके पहले ही चिर परिचित मनु की वाणी गूँज उठी—"सरिता को चली गई है अतः आप कल पधारिये।"

"मनु!"—वासवदत्ता चीखी।

"क्रोध की आवश्यकता नहीं।"—निश्छल भाव से हँस रहा था मन। उसकी इस क्रिया में वासवदत्ता को तीव्र व्यंग का भास हुआ।

वह जल उठी—"मनु! तुम बिना आज्ञा के यहाँ क्यों आये?"

"क्यों?...क्या मुझे यहाँ आने का अधिकार नहीं?"

"नहीं?"

"क्यों?"

"तुम मेरे हो कौन?"

"मैं तुम्हारा हूँ कौन?"—पीड़ा से आहत-सा हो गया मनु।

"हाँ! तुम हमारे हो कौन?"—क्रोध से बोली वासवदत्ता—"पति हो?...भाई हो?...पिता हो?...मैं पूछती हूँ कि तुम हो कौन?"

"मैं तुम्हारा प्रेमी हूँ, अपना हूँ।"

तुम मेरे अपने हो?"—जोर से विहँस पड़ी—"मनु! मेरे अपने दो ही हैं,...एक है मेरा अपना तन, दूसरा है मेरा अपना मन?"

"और इस तन और मन पर मेरा कोई अधिकार नहीं?"

"क्यों नहीं?...मनु! यह तन धन का है, जिसके पास धन है, यह तन उसीका है लेकिन मन की बात कुछ और है?"

"इसका तात्पर्य?"

"एक प्रवासी व्यापारी का यहाँ आगमन होनेवाला है। मुझे उसके संग जल-विहार करने जाना है?"

"मेरा इतना अपमान?"

"मैं किसी का क्या अपमान कर सकती हूँ ! गणिका हूँ, अपने धर्म का पालन कर रही हूँ ?"

"मैं भी तुम्हें जितना चाहो धन दे सकता हूँ ?"

"मनु ! मैं गणिका हूँ, इतना ध्यान रखो !"—धीरे से कहा वासवदत्ता ने—"आज मुझे उसके संग जल विहार करने जाना ही पड़ेगा। मैं वचनाबद्ध हूँ।"

"यह मेरा अपमान है वासवदत्ता, अपमान ?"—व्यथा से आहत मनु झुँझला उठा।

"गणिका के यहाँ अपमान-सम्मान पर सोच-विचार नहीं करना चाहिये।"—स्वर को परिवर्तित किया वासवदत्ता ने—"मेरी समझ में मैं तुम्हारा कोई अपमान नहीं कर रही हूँ, फिर तुम अपने मन में जैसा सोचो, समझो वैसा कहो, मेरा कोई प्रतिरोध नहीं ?"

"पर तुम यह तो जानती ही हो कि मैं....?"

"अभिमान को त्यागो मनु ?"—वासवदत्ता चीख उठी—"तुम नगर के श्रेष्ठीवर हो तो क्या हुआ ? मेरी इच्छा के विरुद्ध इस भवन का किसलय तक नहीं हिल सकता ? यहाँ तुम्हें आना रुचिकर लगता हो तो आओ अन्यथा अभी ही चले जाओ, यह रहा पथ ?"

"और नहीं गया तो ?"—कृत्रिम हठ किया मनु ने।

"यह असम्भव है, मैं एक नहीं, तुम्हारे जैसे कितने ही सेट्ठिपुत्रों का एक वितान तान दूँगी और उनके समक्ष तुम्हें अपमानित करूँगी, धक्के देकर निकाल दूँगी।"

"क्या कहा ?"—मनु की मुट्ठियाँ बंध गईं। उसके मन में आया कि इस छलनामयी का ग्रीवा पकड़ कर सदैव के लिये उसे महायात्रा करा दे पर परिस्थिति वश वह मौन रहा।

"धक्के देकर निकलवा दूँगी ?"—दंभ नयनों में था।

"इतना साहस है ?"

"हाँ !"

"लेकिन इसका परिणाम ?"

"फिर अबोध बन गये मनु ? परिणाम की विस्मृति तो मैं मधुपान से कर देती हूँ।"—निर्लज्जता की स्मित वासवदत्ता के अधरों पर थी।

"तुम नितान्त पतित हो गई हो ?"—इस बार मनु की आँखों में क्रोध के साथ घृणा भी थी।

"पतित तो हूँ पर तुम्हें अपनी वाणी पर शिष्टता का प्रतिबन्ध लगाना चाहिये। जानते हो, अभी तुम मेरे गृह में हो ?"

"तभी मैं शान्त हूँ अन्यथा अब तक ?"—मनु ने अपने दाँतों से अपने निचले अधर को काट लिया।

वासवदत्ता क्रोध के मारे चीख पड़ी —"मनु !"

"........!"—मनु दुर्वासा बना द्वार की ओर बढ़ा।

उसके जाते ही वासवदत्ता चंद क्षणों तक मौन रही। मौन क्या रही, रोष ने उसके उर के घुटते भावों को प्रकट नहीं होने दिया। वह अपलक बैठी रही।

चंद क्षण निरुद्देश्य व्यतीत हुए।

तब वासवदत्ता तप्त स्वर में बोली—"ऐसा व्यवहार करता है जैसे मेरा पति हो।"—तुरन्त तिलोत्तमा को सम्बोधित करती हुई बोली—"तिलोत्तमा! दंडपांशुल से आज्ञा कर दो कि श्रीमन्त मनु को भवन में प्रविष्ट न होने दें!"

"जो आज्ञा।"—तिलोत्तमा नत नयन-सी चली गई।

वासवदत्ता का चित्त उद्विग्न हो गया।

भवन की प्राचीरों में उसका मन घुटने लगा। वह प्रकोष्ठ में आकर खड़ी हो गई अवसन्न-सी।

उसे रह-रह कर अपने पर पश्चाताप आ रहा था—"सर्व साधन सम्पन्न मेरा जीवन दुखी क्यों? उर्वरा वसुन्धरा पर अति की अग्नि का अवतरण क्यों?"

उसके प्रश्न का उत्तर उसके ही मन ने विहँस कर दे दिया—"तुम्हें सन्तोष कहाँ है? तुम तो असन्तोष की अर्चिका हो।"

"हाँ! मैं असन्तोष की,......तिलोत्तमा!"—झुँझला उठी वासवदत्ता अपने आप पर।

तिलोत्तमा शंकित दृष्टि से अपनी स्वामिनी को देखने लगी।

"सारथी से जाकर कहो कि शिवीका तैयार करें।"

"आज्ञा।"—तिलोत्तमा चली गई।

तोरणद्वार पर रथ रुकने की आहट हुई। वासवदत्ता का ध्यान उस ओर आकर्षित हुआ।

कि तिलोत्तमा ने आकर निवेदन किया—"एक अपरिचित प्रवासी व्यापारी आये हैं।"

वासवदत्ता ने अरुचि से कहा—"जाओ, उनसे नम्र निवेदन कर दो कि आज हमारी स्वामिनी निरोग नहीं है, अतः आपका मनोरंजन करने में सर्वथा असमर्थ है।"

तिलोत्तमा जाने लगी, वासवदत्ता ने उसे तुरन्त रोकते हुए कहा—"उन्हें जाकर कहो कि मेरी स्वामिनी जल-विहार करने जायेगी, यदि आप जल-विहार का आनन्द लेना चाहते हैं तो ससम्मान चल सकते हैं।"

तिलोत्तमा ने जाकर तुरन्त लौट कर कहा—"उन्हें स्वीकार है!"

रथ में आगन्तुक व्यापारी के पार्श्व में वासवदत्ता बैठी थी।

यह प्रवासी भी कोई लक्षाधीश ही था।

आभूषणों से युक्त ग्रीवा और भुजा तथा हीरक जड़ित ध्रुव तारे की सदृश्य प्रकाशमान मुद्रायें।

नगर प्रवेश करते समय जब मित्र-मण्डल में आमोद-प्रमोद का प्रश्न उठा तो सब ने एक स्वर में वासवदत्ता के रूप-गुण की प्रशंसा की थी। रूप-गुण की प्रशंसा के साथ यह भी कहा गया था—"उस पर विजय पाना सहज कार्य नहीं।"

इस पर आगन्तुक व्यक्ति ने उस कामिनी पर मन-ही-मन विजय पाने की प्रतिज्ञा की थी।

पर वासवदत्ता?

उसने तो अब निर्णय कर लिया था—जीवन का महान् समर्पण का अधिकारी, राहुल के उपरान्त उपगुप्त ही हो सकता, संन्यासी उपगुप्त।

वह उपगुप्त की अंकशायिनी बनना चाहती थी।

अन्तर के विशाल पट पर उपगुप्त की सलोनी छवि चित्रित हो चुकी थी।

भिक्षुक ने उसके जीवन में एक प्रश्न उठा दिया था। वह प्रश्न भिक्षुक के दिव्यानन की भाँति दिव्य था, दुर्जेय था। संन्यासी को स्मरण करती-करती सुन्दरी अस्फुट बड़बड़ा उठती थी। प्रतारिका-सी अवसाद के हिचकोले खा रही थी—रथ में।

आगन्तुक व्यापारी उसके चिन्तातुर मुख को देखते-देखते ऊब गया था।

रथ अब भी द्रुतगति से चल रहा था।

वृषभों के ग्रीवाओं में बँधी घंटियाँ अब भी मधुर ध्वनि कर रही थीं।

एकाएक सामने अत्यन्त सज्जित अन्य रथ आता हुआ दृष्टिगोचर हुआ। रथ वासवदत्ता का परिचित था तो भी वासवदत्ता ने उस रथ की कृत्रिम उपेक्षा कर दी।

अन्य रथ जब नितान्त निकट आ गया तो आज्ञा भरी वाणी सुनाई पड़ी—"रथ रोको।"

वाणी मनु की थी।

प्रवासी के सारथी ने रथ रोक दिया।

प्रवासी इस अभद्रता को सह नहीं सका। गर्ज पड़ा—"रथ हाँको, यह कोई नगरपति की आज्ञा नहीं है।"

"हाँ, हाँ! रथ हाँको!"—वासवदत्ता ने भी कहा।

"छलनामयी! जीवन के अन्त को जानती हो!"

"भली भाँति, जीवन का अन्त है मृत्यु, केवल मृत्यु!"

"कौन-सी मृत्यु ?......दानव की या मानव की ?"

"कैसी भी हो, पर जीवन का अन्त मृत्यु है, इतना मैं जानती हूँ।"

मनु गम्भीर उत्तर सुनकर चुप हो गया।

सारथी ने वासवदत्ता की आज्ञा सुन कर रथ हाँकना चाहा कि मनु बोला—"इस संसार में लहरों का कोई अस्तित्व नहीं, तुम भी तो एक लहर की भाँति हो, भला तुम्हारा क्या अस्तित्व हो सकता है ?"

"लहरें कूल के प्रस्तर को काट-काट कर अस्तित्व-हीन कर देती हैं।"

"लेकिन उस अस्तित्व के चिह्न अमिट होते हैं।"

"आमूल चूल परिवर्तन चिह्नों तक को मिटा देते हैं, तब कूल के स्थान पर केवल लोल लहरें नर्तन करती दिखाई देती हैं।"

मनु जल उठा।

वह कुछ बोलने के लिये उद्यत हुआ ही था कि वासवदत्ता का रथ आगे बढ़ गया। प्रवासी व्यापारी इस नाटक को नहीं समझ सका। वासवदत्ता के रौद्र रूप को देखकर वह नितान्त निरुत्तर रहा और उसने मन ही मन निश्चय कर लिया कि यह सुन्दरी असाधारण है।

अब रथ सरिता कूल पर था।

वासवदत्ता को प्रवासी व्यापारी ने कर सम्बल देकर रथ से उतारा। कर-स्पर्श से प्रवासी के मन में पाप का उद्‌भव हुआ।

हँस पीठिका तरणी लोल लहरों पर मन्थर गति से लास कर रही थी। नाविक डाँड खे रहे थे। प्रवासी व्यापारी अपना समस्त व्यक्तित्व विस्मृत करके अबोध शिशु-सा बैठा था—वासवदत्ता के सम्मुख।

कभी-कभी वह शिशु दृष्टि से वासवदत्ता को घूरता भी था।

तरणी सरिता के मध्य में थी।

वासवदत्ता ने वीणा को कर में लेकर उसके तारों को अपनी मृदुल अंगुलियों से झंकृत करती-करती जब रुक गईं तब प्रवासी की प्रसन्नता नयनों में दीप्त होती होती रुक गई।

एकान्त, निस्तब्धता, नारी तन की मादक सुगन्ध, हल्का-हल्का स्पर्श।

उसने विनीत होकर कहा—"देवी! निस्पंद क्षण व्यतीत नहीं किये जाते!"

वीणा विनिन्दित कंठ भंगिमा से उत्तर दिया वासवदत्ता ने—"सच!" मैं भी सोच रही हूँ कि कुछ करूँ?....क्यों श्रीमन्त! यदि संगीत के मधुर स्वरों से इस वातावरण में उस प्रमाद और उन्माद का समावेश कर दूँ जो समस्त चिन्ताओं का हरण कर सकता है तो उसमें आपको कोई आपत्ति है।"—प्रश्न सुन्दर था।

"नहीं तो, मैं भी तो इसीलिये आया हूँ देवि! संगीत संकट मोचन कहलाता है। मन के सन्ताप को हरण करने की शक्ति उसमें रहती ही है। इसे मैं और तुम भली-भाँति जानते हैं।........अब तुम वीणा-वादन करो,........वातावरण भी हमारा साथ दे रहा है।"

वासवदत्ता वीणा के तारों पर अपनी अँगुलियाँ धावित करने लगी।

निशीथ-क्षणों में संगीत की कोमल कान्त स्वर लहरी अनन्त को ध्वनित करने लगी और प्रवासी विस्मय मुग्ध-सा उसे निहारता रहा।

पर आज स्वर सदैव की अपेक्षा परिवर्तित था।

प्रवासी ने वीणा के निर्जीव तारों में ऐसी मर्मांतक वेदना सजीव

रूप में नहीं सुनी थी। वह आत्म-विभोर-सा उसे देखता रहा, संगीत का रसास्वादन करता रहा।

तरणि अब भी मन्थर गति से चल रही थी।

वीणा की गति का संचालन बढ़ता ही गया, बढ़ता ही गया।

प्रवासी का आनन्द भी उसी प्रकार बढ़ता गया।

"झन....!"—के साथ वीणा के तार टूट गये।

ऐसा विदित हुआ प्रवासी को जैसे सुख स्वप्न पर अप्रत्याशित आघात लगा हो। उसके चेहरे पर भय की रेखायें दौड़ गईं—"अब क्या होगा?"

"प्रवासी को इतना व्याकुल देखकर वासवदत्ता विहँस पड़ी—"होगा क्या?...क्यों?"

"तार जो टूट गये हैं?"—प्रवासी का हाथ टूटे हुए तारों की ओर था।

"पुनः बना लिये जायेंगे।"

"सुन्दरी! ऐसी मधुर वीणा मैंने आज तक नहीं सुनी।···ऐसी निपुणता तुमने कैसे और किसके द्वारा पाई, बताओगी मुझे?"

"वह बड़ा ही अन्यायी और निष्ठुर है।"

"निष्ठुर की ऐसी मृदुल देन? आश्चर्य है सुन्दरी?"

"केवल निष्ठुर नहीं, पापी भी है, दस्यु भी है, भला भी है।"

"ऐसा विचित्र कौन है?"

"पेट!"

"पेट !!"—प्रवासी के नेत्र विस्फारित हो गये। विस्मय हठात् नयनों में बोल उठा।

"यह पेट न होता तो मैं वीणा की निपुण वादिनी वारङ्गना नहीं होती।...सच कहूँ तो यह पेट नहीं होता तो सृष्टि में कोई समस्या ही नहीं होती। यह लघु पेट कितने भयानक अपराध कराता है, अनुमान लगाना दूभर है।"

तरणी अब भी चपल-चंचल वीचियों पर किलोलें कर रही थी।

इसी प्रकार की वार्त्तालाप में दोनों निमग्न थे।

वासवदत्ता की दृष्टि प्रवासी की उस मुद्रा पर पड़ी, जिस पर स्वर्णकार की कला बोलती थी। मुद्रा को लालसा भरी दृष्टि से देखती हुई वह प्रवासी के सन्निकट आई। उसका हाथ उसने अपने कर में लिया—"श्रेष्ठिवर! यह मुद्रा आपने कब बनाई?"

प्रवासी उसकी मनसा को भाँप गया—"क्यों, तुम्हें पसन्द है?"

"जी नहीं, किन्तु इसकी निर्माण कला वास्तव में अद्‌भुत है!"

"नगर के नितान्त निपुण-निर्वाचित स्वर्णकार का यह कौशल है।"

तभी पवन का एक हल्का झोंका आया। तरणी डगमगा उठी। प्रवासी के अधर वासवदत्ता के कपोल का हल्का चुम्बन दैवयोग से ले बैठे।

"ओह!"—वासवदत्ता आश्वस्त होती हुई बोली—"तभी यह मुद्रा प्रत्येक का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लेती है?...इसके निर्माण का क्या अर्थ दिया?"

"अर्थ! सुन्दरी वह स्वर्णकार तो मेरा मित्र है।"

"वह आपका मित्र है, तभी तो उसने इतनी उत्कृष्ट वस्तु का निर्माण किया है।"

"मुझे तो पूर्ण विश्वास हो गया है कि यह मुद्रा तुम्हें पसन्द है।"

"नहीं,......नहीं।"

"मिथ्या बोलती हो?"

"पसन्द हो भी तो क्या? आप अपने मित्र की भेंट को मुझे थोड़े ही दे देंगे?"—वासवदत्ता ने उसकी भावना पर प्रहार किया।

"मैं ऐसी एक नहीं, दस बनवा सकता हूँ, यदि तुम्हें पसन्द हो तो ले लो।"—वह मुद्रा अंगुली से उतारने के लिये तत्पर हुआ।

"इस तुच्छ पर इतनी कृपा......?"

"इसमें कृपा की क्या बात? लो, इस मुद्रा को पहन लो। यह तुम्हें अत्यन्त भली लगेगी, लो पहनो न?"—कहकर प्रवासी ने वासवदत्ता के कर में मुद्रा पहना दी।

मुद्रा पहनकर एक पल के लिये सुन्दरी ने अपनी अंगुली को मोह-दृष्टि से निहारा।

प्रवासी ने उसके कटि-प्रदेश में अपना हाथ विस्तृत करना चाहा कि कूल के समीप के अरण्डय में गगन-भेदी गर्जना हुई—वनराज की। प्रवासी और वासवदत्ता दोनों काँप उठे।

तरणी तुरन्त कूल की ओर अग्रसर हुई। दोनों भयभीत थे, शंकित थे।

कँपानेवाली गर्जना पुनः हुई।

वासवदत्ता ने उस ओर ध्यान से दृष्टिपात किया।

धुँधले प्रकाश में उसने देखा और देखकर चिंघाड़ उठी—"भिक्षुक ! भिक्षुक !! बचो, सिंह ! सिंह !!

वासवदत्ता बेसुध-सी भिक्षुक की ओर लपकी। देखा—आक्रमणकारी सिंह धराशायी हो गया है। उसके एक अत्यन्त घातक बाण लगा है।

लेकिन भिक्षुक उपगुप्त का चेहरा निर्द्वन्द्व था। भावशून्य था। लपक कर वह सिंह के समीप गया और उसे थपथपाकर धैर्य दिया। धैर्य देकर बाण को निकाला। प्रहार इतना घातक नहीं था जितना समझा गया था। तो भी रक्त प्रवाहित होने लग गया था।

भिक्षुक ने तुरन्त अपना कोपाय वस्त्र चीर करके सिंह के प्रहार पर बाँधा। सिंह उठकर पालतू पशु की भाँति वन की ओर चला गया।

वासवदत्ता तुरन्त भिक्षुक की समीप पहुँची। आकुलता से बोली—"यह तुमने क्या किया ? कहीं हिंस्र पशु तुम्हारा भक्षण कर लेता तो ?"

तभी आखेटी भी आ गया था। आखेटी के नयनों में रोष था।

भिक्षुक का स्वर शान्त था, मुद्रा शान्त थी—"अभिताभ के शुभाशीर्वाद प्राप्त करने के पश्चात प्राणी को मृत्यु का भय नहीं रहता क्योंकि मृत्यु एक दिन निश्चित है।...इस पर प्रत्येक जीव मात्र उपकार का आभारी होता है।"

"साँप को दुग्धपान कराने से क्या वह अपने स्वाभाव का त्याग कर देगा ?"—वासवदत्ता ने पूछा।

"क्यों नहीं; मनुष्य में आत्मबल होना चाहिये फिर वह जैसा चाहे, वैसा कर सकता है।"

"लेकिन जान-बूझकर के प्राणों का होम करना भी तो साधुता नहीं है।"

"साधुता के लक्षण और उनकी साधना जनित प्रवृतियों को तुम क्या जानो? कनक की चमक में लीन प्राणी को मन की सच्चाई का ज्ञान कम रहता है। विश्व के प्रांगण में अहिंसा और दया ही ऐसी वस्तुएँ हैं, जिससे मनुष्य मात्र का कल्याण संभव है। आखेटी व्याघ्र पर प्रहार नहीं करता तो क्या व्याघ्र उस पर झपटता? नहीं, कदापि नहीं। आखेटी ने उसके प्राण लेना चाहा, तो उसने उसके प्राण लेने का प्रतिकार किया। ज्ञानी हिंसा नहीं करता, वह हिंसा का विनिमय भी अहिंसा से करता है। इसलिये प्राणी मात्र को दया करनी चाहिये ताकि वह निर्वाण पद प्राप्त करके जन्म-जन्मांतर से मुक्त हो।"—कहते-कहते भिक्षुक के नेत्र बन्द हो गये।

आखेटी ने आकर भिक्षुक के चरण-स्पर्श कर लिये। भिक्षुक ने उसे आशीर्वाद दिया—"कल्याण हो।"

"मैं भविष्य में कभी भी हिंसा नहीं करूँगा। मैं जान गया हूँ कि जीवन में यदि सर्वश्रेष्ठ वस्तु है तो दया और अहिंसा।"—आखेटी ने भिक्षुक की पग-धूलि को मस्तक पर लगाया और वन के पूर्वाञ्चल की ओर चला गया।

अब भिक्षुक नितान्त मौन था।

वासवदत्ता ने उसकी प्रतिज्ञा को स्मरण दिलाते हुए कहा—"भिक्षु! अपनी प्रतिज्ञा तुम्हें स्मरण होगी? तुमने कहा था—मैं एक वर्ष बाद आऊँगा,......देखो! वर्ष व्यतीत होने के संग-संग आज कितना मादक

वातावरण है ?"—वासवदत्ता अपनी अत्युत्तम मुद्रा में खड़ी हो गई। भिक्षुक ने देखा—"सरिता की वीचियों से भींगा पवन का हिलोरा आजानुप्रलम्बित कुन्तलों को सहला रहा है। उसकी अलकें मलय के झोंकों पर नर्तन कर रही है। उसका वक्ष नीले रंग के उत्तरीय के नीचे कंचुक से कसे हुए वर्तुलाकार आवर्तों में ऊपर उभर रहा है।"

उसका मन विचलित हो उठा।

तब भिक्षुक ने मन-ही-मन स्मरण किया :—

दुन्निग्गहस्स लहुनो यत्थ कामिनि पातिनो
चितस्य दम थो साधु चित्तं दन्तं सुखावह *

भिक्षुक की चेतना सावधान हो गई। मन विचलित होते-होते अडिग हो गया। नारी के समक्ष निर्वाण के पाँव डगमगाते रह गये। उसने नेत्र मूँद करके तथागत के दर्शन किये। मन को शान्ति मिल गई।

"वातावरण अपनी नियत परीधि में प्रत्यावर्तन करता रहता है। इसके लिये पश्चाताप करना व्यर्थ है ?"

"नहीं भिक्षुक! जो क्षण व्यतीत होता जाता है, वह पुनः नहीं लौटता! और ये क्षण कितने सुन्दर हैं ?"

"क्षण इससे भी सुन्दर आ सकते हैं ?"

"लेकिन तुमने जो प्रतिज्ञा की थी ?"

"उस प्रतिज्ञा में अभी एक पक्ष की अबेर है "

* (जो) कठिनाई से निग्रह योग्य, शीघ्रगामी, जहाँ चाहता है, वहाँ चलनेवाला है। (ऐसे) चित्त का दमन करना उत्तम है; दमन किया चित्त सुखप्रद होता है।

"तो तुम्हें कल मेरे घर पर पुनः आतिथ्य स्वीकार करना पड़ेगा ?"

"अवश्य ?"

"कब ?"

"वही प्रभात-बेला ?"

"सच ?"

"......।"—इसका बिना उत्तर दिये ही उपगुप्त चला गया।

रह गई थी एकाकी वासवदत्ता। उसका नूतन अतिथि प्रवासी।

प्रवासी इतने काल तक कुछ नहीं समझा। देखता रहा वासवदत्ता और भिक्षुक को। उसने उन दोनों की वार्त्ता को समझने का प्रयास भी किया था, पर समझने में वह असमर्थ सा रहा।

वासवदत्ता उसे दुत्कार न दे, यही विचार करके प्रवासी ने शंकित स्वर में पूछा —"यह भिक्षुक कौन था ?"

"......।"—वासवदत्ता मौन रही।

"सुन्दरी ! यह साधारण भिक्षुक कौन था, जिसके समक्ष तुम प्रणय-चर्चा कर रही थी ?"

"वह साधारण भिक्षुक था ?......किस रूप में ?"

"वह अवश्य निर्धन होगा ?"

"तो क्या हुआ ? रूप-गुण-बुद्धि का तो लक्षाधीश है।....भन्ते ! यह उपगुप्त है, जो मृत्यु जैसी भयानक वस्तु से भी भय नहीं खाता।"—वासवदत्ता की वक्ष उभर आई।

"सुन्दरी ! तुम बड़ी विचित्र हो, संन्यासियों-साधुओं के लिये तुम्हारे हृदय में अपनत्व है, ऐसा क्यों ?"

"क्योंकि वे मनुष्य हैं, उनके अन्तर में नारी के प्रति प्रणय है?"

"और हम ?"

"तुम !......तुम तो बहुत अच्छे हो, तुम्हारा हृदय भी अच्छा है ?"—वासवदत्ता के शब्दों उपहास था।

"तुम तो उपहास करती हो ?"—तनिक रुष्टता से कहा प्रवासी ने।

"उपहास !........वह भी अपने अन्नदाता का ?"......व्यंग था स्वर में—"यह कैसा आरोप, भन्ते ! आज्ञा दीजिये ?"

"आज्ञा ?"......सुन्दरी ! एक अनुपम नृत्य दिखा दो। पारितोषिक पूर्व प्रदान कर देता हूँ।.......लो यह पुखराज।"—कह कर प्रवासी ने पुखराज उसे भेंट कर दिया।

वासवदत्ता ने एक क्षण तक उस पुखराज को देखा फिर उसे सरिता के अथाह जल में फेंक दिया।

प्रवासी रोकता रोकता रह गया। जो वह कहना चाहता था वह कह न सका। वह कहना चाहता था—"यह तुमने क्या किया सुन्दरी ?"

और सुन्दरी ?

वह तो खिलखिलाकर हँस रही थी, हँसती जा रही थी।

हँसते-हँसते उसके नयनों में जल भर आया था।

× × ×

आज तिमिराछन्न रात्रि वेला में उपगुप्त का चित्त उद्विग्न पर उद्विग्न होता जा रहा था।

उसके मस्तिष्क में भाँति-भाँति शंकायें धूम्र सदृश्य उठ-उठकर लुप्त हो रही थीं।

क्योंकि संघों में नारी प्रवेश मान्य था। भिक्षुणि‍ा
चरणों में अपना जीवन-यौवन समर्पण करती जा रही थीं। लेकिन आज वह गंभीरता से इस बात पर विश्लेषण करना चाहता था।

उसने मन-ही-मन सोचा—"'ध नारी प्रवेश धर्मोत्थान के लिए श्रेयस्कर है या धर्म पतन के लिये"

तब उसके अपने मन ने कहा—"यह महाप्रभु ने औचित्य नहीं किया ! क्योंकि कालचक्र में ये नारियाँ जो वास्तव में वीतराग का जीवन यापन करना चाहती है, धर्म के उत्थान में अपना एक मुख्य अभिनय कर सकती है लेकिन जो किसी भिक्षुक पर आसक्त होकर, उसे अप्राप्य समझकर, प्रवज्या लेंगी और संघ में प्रविष्ट करेगी, वह अवश्य ही भ्रष्टाचार का विस्तार करेंगी।"

इन्हीं विचारों में उलझा उपगुप्त स्थिर होकर बैठ गया। उसका हृदय पीड़ित था।

निशीथ के निविड़ क्षण।

क्षणों की मन्थर गति।

विचारों का संघर्ष और संघर्ष से जो मन्थन होकर नवनीत निकल रहा था, उसी नवनीत को उपगुप्त बड़ी सावधानी एकत्रित कर रहा था।

उसने निर्णय किया कि वह धर्म संघ में जाकर महास्थिवर से प्रार्थना करेगा कि संघ में नारी-प्रवेश की एक मर्यादा बना दी जाय अन्यथा भविष्य के गर्भ में निहित भयानक दावानल महाप्रभु के महामंत्र का विनाश कर देगा। संघों में ये पिंगला, स्वर्णकेशी, वाणिनी शिक्ष-

माणा का नाट्य करती शील और संयम के स्थान पर अनाचार और व्यभिचार का विस्तार करेगी।

तब विरोधी धर्मावलम्बियों से संघर्ष होगा।

महाप्रभु के त्रिरत्नों पर से लोगों का विश्वास उठ जायेगा।

धर्म में महान् परिवर्तन की आशंका उठ जायेगी।

लोगों को सादगी के स्थान पर वैभव, त्याग के स्थान पर मोह, धर्म के स्थान पर पाप दृष्टिगोचर होगा।

तब महान् क्रान्ति का आह्वान होगा।

क्रान्ति के साथ नवीन धर्मचक्र का प्रवर्तन होगा।

भिक्षु उपगुप्त भावावेश के कारण शिथिल हो गया।

उसके सूर्यमुख पर परिताप भरे स्वेदकण उभर आये। भविष्य के गर्भ में क्या निहित है, उसका धुँधला आभास धुंध-सा उसके नेत्रों के सम्मुख नर्तन करने लगा।

अभिशप्त उपगुप्त नेत्रोमिलन करके धरती पर सो गया। उसे जाग्रत स्वप्न आने लगे।

अविकसित कमलिनी की सदृश्य उसकी बन्द पलकें वासवदत्ता के चतुर्दिक चक्कर निकालने लगी—"चम्पे सा मुग्ध यौवन, अधरों पर ताँबुल की रक्ताभ। बिन्दी शोभित भाल पर उत्तेजना और आवेश के झलके हुए स्वेदकण। कंचुकी के आवरण में श्वाँस और प्रश्वाँस के संग प्रदर्शित होने वाला गर्वित सौन्दर्य।

अपूर्व सुन्दरी!

अनुपम रूपोपजीविनी!!

चौंक कर उठ गया उपगुप्त। अपने चारों ओर दृष्टिपात किया—घोर अन्धकार के सिवाय कुछ भी दृष्टिपात नहीं हो रहा है।

उसे भान होने लगा कि वासवदत्ता एक नव दीक्षित भिक्षुक पर आसक्त हो गई है। भिक्षुक अपने पथ पर अडिग है। लाचार वासवदत्ता भिक्षुणी बन जाती है।

सदैव का सामीप्य उस भिक्षुक को चंचल बना देता है।

दमन किये मन के विकार उच्छृङ्खल होने लगते हैं।

उपगुप्त को उस भिक्षुक पर क्षोभ आने लगता है। वह उसे चेतावनी देता है—"श्रमण !श्रमण !! रुको भावनाओं में इतना न बहो कि तुम्हारी निर्वाण की साधना भंग हो जाय........नारी साधु की महान् दुर्बलता है। उस दुर्बलता पर अधिकार करो वर्ना तुम्हारे निर्वाण-प्राप्ति के अष्टांग साधन भंग हो जायेंगे।......तुम्हें तो सद्ज्ञान, सद्-संकल्प, सद्वाणी, सद्कर्म, सद्जीविका, सद्विचार, सद्चितावस्था की ओर प्रवृत होना चाहिये और तुम्हारा मन तो एक अभिनव अभिशाप की ओर उन्मुख हो रहा है। सँभलो, श्रमण सँभलो।"

"पर वह भिक्षुक उससे लुक-छुप करके अभिसार करता रहता है।"

"अभिसार अन्त में पतन बन जाता है।"

"तब........?"

"नहीं !"—भिक्षुक गर्ज पड़ा—"मैं महास्थिवर से प्रार्थना करूँगा ही।"

उपगुप्त के नेत्र इस बार ऐसे खुले जैसे एक नहीं सहस्त्र उल्काओं का प्रकाश उनमें जगमगा उठा है।

जैसे भगवान बुद्ध की कृपा ने इस अनात्मा भक्त को इन पापावृत से मुक्त होने का सम्बल दे दिया है।

वह उठा।

निविड़-शून्यता में चहल-पहल करने लगा।

शून्यता में पद-चाप स्पष्ट सुनाई पड़ रही थी।

विचारों का संघर्ष अब भी उसके मस्तिष्क में चल रहा था। अन्त में उसने निर्णय किया—"मैं वासवदत्ता के यहाँ अवश्य ही जाऊँगा। महाप्राण अमिताभ का सच्चा भक्त हूँ, शैक्ष हूँ तो अपने आत्मबल से उस प्रवंचनामयी छलना के वासना भरे हृदय में विरक्ति की भावना को उत्पन्न करूँगा, उसके विलासी हृदय को विभुता-विमुख करूँगा!"

इतना विचारते-विचारते उपगुप्त जड़वत् हो गया।

निर्णय भयंकर था, तो उसकी सफलता प्राप्त होनी भी उतनी ही भयंकर थी।

अनुरक्ति और विरक्ति की स्पर्धा थी।

कौन विजयी होगा, कोई नहीं जानता था?

दोनों महाबली थे।

जीवन की शतरंज के चतुर खिलाड़ी थे।

एक सुन्दरी थी—

और एक संन्यासी था।

उपगुप्त चलने को उद्यत हुआ।

उसने सर्वप्रथम उस गहरी शून्यता में महाप्राण की महाभ्यर्थना की।

धीरे-धीरे डग उठाता लता-कुञ्ज की ओर बढ़ा।

हौले हौले सुनाई पड़ रहा था—

बुद्धं सरणं गच्छामि
धर्म्मं सरणं गच्छामि
संघं सरणं गच्छामि

भिक्षुक घने वन की शून्यता में अलोप हो गया।

× × ×

हेमन्त-प्रभात में चंचल-गात्री वासवदत्ता नववधू-सी अलिन्द में आत्मविभोर हुई खड़ी थी।

आज उसने निर्णय कर लिया था कि संन्यासी लाख भी मना करे, पर वह नर्तन करेगी।

नृत्य!

ऐसा नृत्य जो अपनी अद्भुत कला द्वारा उपगुप्त के हृदय में मोह का प्रादुर्भाव करेगा तब मैं उस नृत्य को अपने जीवन का सफल-नृत्य मानूँगी।

केवल सफल ही नहीं, यह नृत्य मेरे जीवन का अन्तिम नृत्य होगा।

वासवदत्ता के विचार और गंभीर हो गये—"राग और विराग के संपात पर संयम का शिला-खण्ड भग्न करके मैं राग का ज्वार उत्पन्न करना चाहती हूँ। इस विलास और उल्लास के असीमित सागर में संन्यासी को डुबाना चाहती हूँ।"

"और यदि मैं......?"

"हाँ, यदि मैं पराजित हो गई तो इन समस्त कला-निधियों को अगस्त्य मुनि की भाँति पान कर डालूँगी। तत्पश्चात इस हृदय में उस निर्लेप की उपासना का प्रदीप प्रज्ज्वलित करूँगी जो मेरी पराजय की पवित्र प्रतिक्रिया होगी।"

इस प्रकार वह दृढ़ निश्चय करके अलिन्द के समस्त दर्पणों में अपने को दर्प से देखा। स्वर्ण-आभरणों से सज्जित वह ऐसी लग रही थी जैसे स्वर्ण-पत्रों के मध्य झिलमिलाती दीप-शिखा।

आज भवन की स्वच्छता भी विशेष रूप से कराई गई थी।

तोरणद्वार, गर्भद्वार, अलिन्द, प्रकोष्ठ, गवाक्ष सज्जा की पराकाष्ठा को पहुँच गये थे।

चम्पक, कमल, जूही के पुष्पों से भवन महक रहा था।

दण्डपांशुल और परिचारिकायें नूतन वस्त्र धारण किये अपने-अपने कार्य में तत्पर दीख रहे थे। उनके आननों पर ऊषा की भाँति सुखद उन्मेष छाया हुआ था।

दण्डपांशुल ने दौड़ कर, आकर संवाद सुनाया—"श्रमण उपगुप्त पधार रहे हैं!"

वासवदत्ता चंचल हो उठी।

भिक्षुक के स्वागत हेतु वह कुछ देर अपनी चेतना को विस्मृत करके यत्र-तत्र धावित होने लगी।

जब भिक्षुक ने तोरण-द्वार पर अपना चरण रखा तब वासवदत्ता के युग्म कर भिक्षुक के चरणों पर थे।

भिक्षुक ने आशीर्वाद दिया—"कल्याण हो!"

भिक्षुक का महास्वागत हुआ।

प्रसाद ग्रहण करने के उपरान्त केलि-भवन में भिक्षुक के लिये चन्दन की वेदी रखी हुई थी। आसन ग्रहण किया भिक्षुक ने।

वासवदत्ता ने अपनी परिचारिकाओं को सम्बोधित करते हुए कहा—"एकान्त!"

सब परिचारिकायें चली गईं।

भवन में शून्यता छा गई।

भिक्षुक ने उस शून्यता को ध्यान में रखते हुए प्रश्न भरी दृष्टि से वासवदत्ता को देखा।

वासवदत्ता मुस्करा पड़ी।

भिक्षुक आश्वास्त होता हुआ बोला—"भद्रे! तुम्हारी साधना की भावना पवित्र नहीं है। अतः उसका यथेष्ट फल प्राप्त नहीं हो सकता।"

"जैसी भावना होगी, क्या वैसा ही फल मिलेगा?"

"क्यों नहीं, यह चिरन्तन सत्य है!"

"मेरी भावना किसी को प्राप्त करने की हो तो?"

"वह तुम्हें मिलेगा!"

"यह सत्य है?"

"चिरन्तन!"

"तो मैं तुम्हें प्राप्त कर ही लूँगी!"—वासवदत्ता ने तुरन्त कहा।

"क्यों नहीं, साध्य को यदि तुम्हारी साधना पसन्द आई तो!"

"क्या मेरी साधना तुम्हें पसन्द नहीं है?"

"......!"—भिक्षुक ने 'न' के संकेत में सिर हिलाया।

"क्यों ?"—घात लगा हो वासवदत्ता के, ऐसे चौंक पड़ी।

"क्योंकि मैं नारी में उत्थान और पतन पाता हूँ। यदि वह शील, संयम और सदाचार से चले तो जगत-कल्याण कर सकती है।"—कथन गम्भीर था।

"तुम तो मुझे सदैव वात्याचक्र में उलझाने की चेष्टा करते हो और मैं तुम्हें स्पष्ट शब्दों में कहती हूँ कि मैं बिना प्रेम किसी भी साधना, उपासना, अराधना को सफल नहीं मानती। भिक्षु! मुझे प्रेम चाहिये, प्रेम!"

"मैं तुम्हें प्रेम दूँगा।"

"तुम मुझे प्रेम दोगे ?"—रोम रोम बोल उठा वासवदत्ता का।

"हाँ, मैं तुम्हें प्रेम दूँगा, निश्चय प्रेम दूँगा।"

"तो लो यह आँचल विस्तृत है।"

"प्रेम के लिये यह स्थान उचित नहीं।"

"भिक्षु!—कहकर वासवदत्ता उसके सन्निकट आ गई।

भिक्षुक उससे विलग होने की चेष्टा करने लगा।

"तुम मुझे प्रेम प्रदान करोगे ?"—वासवदत्ता के संयम का बाँध टूट गया। वह अनर्गल अलाप करने लगी—"भिक्षु! मुझे कुछ नहीं चाहिये, केवल तुम्हारा प्रेम चाहिये। तुम्हारे प्रेम-प्रसून का प्रसाद जब इस देवी को प्राप्त हो जायेगा तब वह तुम पर अपना सर्वस्व विसर्जन कर देगी,....प्राण भी।"

"मैंने कहा न, कि प्रेम-प्राप्त करने का यथेष्ठ स्थान भी तो होना चाहिये। वह तुम्हारे पास कहाँ है ?"

"कैसे नहीं है ?"—रूपमाधुरी चौंक पड़ी।

"वह स्थान कौन सा है, बतला सकते हो ?"

"हाँ, हृदय !"

"और हृदय में प्रेम है या वासना ?"

"भिक्षुक !"—वासवदत्ता ने रोष भरी दृष्टि से भिक्षुक की ओर निहारा।

"जा रहा हूँ देवी।"—भिक्षुक खड़ा हो गया।

उसे रोकते हुए वासवदत्ता करुणा से बोली—"क्षमा कर दो भिक्षुक ! मैंने दंभ में प्रेम की महत्ता को विस्मृत कर दिया था, इतने दिन तक समस्या को ही जीवन की सफलता, अमोघ शस्त्र मानती रही। लेकिन वह मिट्टी के पर्वत की भाँति खंडित हो रहा है। अब मैं प्रेम चाहती हूँ, केवल एक व्यक्ति की प्रेम-पात्र बनकर शेष जीवनयापन करना है मुझे।"—वह अवश सी भिक्षुक से सटकर खड़ी हो गई।

भिक्षुक ने शान्त भाव से कहा—"प्रेमी बनने के पूर्व त्यागी बनना सीखो। देवी ! प्यार रोष नहीं करता, वासना अपराध करा देती है। जब तक तुम त्याग करना न सीख जाओगी तब तक तुम सफल प्रेमिका नहीं बन सकती।"

"मैं सर्वस्व त्यागने को तत्पर हूँ।"

"शीघ्रता भी वासना का एक भाव है। त्याग की उत्पत्ति चिन्तन से होती है देवी।.......और यौवन चिन्तन को किंचित महत्त्व देता है।"

"यह तुम कैसे कह सकते हो भिक्षुक ?"—वासवदत्ता उपगुप्त के दोनों हाथ अपने करों में ले लिये।

उपगुप्त जड़वत् रहा।

उसके अधर किसी की अभ्यर्थना में निमग्न थे।

पाप के इस घोर संघर्षण-विघर्षण में अपने आपको अस्पृश्य रखने हेतु।

भावोद्रेक वासवदत्ता उपगुप्त का बावली सी स्पर्श करने लगी—अंग-प्रत्यंग का।

भिक्षुक के नेत्र बन्द थे।

अधर फड़क रहे थे।

तन शून्य था।

मन समाधिस्थ सा था।

भिक्षुक ने नेत्र खोल दिये।

वासवदत्ता प्रसन्नता से विहँस पड़ी—"भिक्षुक! मेरी इतनी उपेक्षा क्यों कर रहे हो?"

"मैं प्रत्येक प्राणी को प्यार करता हूँ, तुम्हें भी।"

"यह तुम कहते अवश्य हो, लेकिन करते नहीं?"

"मैं प्रेम करने का प्रयास भी करता हूँ।... वासवदत्ता! तुम इतनी शीघ्रता करती हो तभी तो तुम्हारे पर अविश्वास के भाव उत्पन्न हो जाते हैं?"

"ठीक कहते हो, मुझे सदा भय लगा रहता है कि जिस रूप में मैं हूँ, उस रूप में प्राणी मुझ से प्रेमाभिनय अवश्य कर सकता है पर प्यार नहीं कर सकता; इसलिये मैं चाहती हूँ सुपात्र को अपना सर्वस्व अर्पण

करके कल्याण का पथ प्रशस्त कर लूं।"—कह कर वासवदत्ता ने स्वर्ण पात्र से मधु को चषक में उड़ेला—"लो पीओगे?"

"तुम तो वास्तव में भोली हो,...भिक्षुक और मधु!"—हाथ के एक झटके से भिक्षुक ने उपेक्षा के भाव को दर्शाया। अपने कौषाय वस्त्र को ठीक किया।

सूर्य-रश्मियों ने काल की विज्ञप्ति दी।

वासवदत्ता का आँचल नियत स्थान से खिसक कर कटि-प्रदेश पर आ गया।

मनमोहक सौन्दर्य, अवगुंठित स्नेहलता-सी मृदुल नारी की उपेक्षा करना तनिक दुर्लभ था।

उसके अंग-अंग में लावण्य पूंजीभूत ज्वाला की भाँति फूट रहा था। कंचुक के झीने आवरण में दो कंदुक, समुद्रतल पर प्रतिबिम्बित दो चन्द्र-बिंबों की भाँति प्रत्येक श्वाँस-प्रश्वाँस के संग उत्थान-पतन का उपक्रम कर रहे थे।

इन्हीं सबों को वासवदत्ता अपने विजय के अस्त्र बनाने लगी। उसने भिक्षुक के सामने मधु-चषक भग्न कर दिया और पूछ बैठी—"ठीक है न?"

"अभिनय को सत्य में उतारने की चेष्टा उचित नहीं है।"

"तुम तो बड़े निर्दयी हो।"—कह कर वासवदत्ता ने भिक्षुक का हठात् चुम्बन ले लिया।

नारी के सद्यःस्नाता सौन्दर्य की अवर्णनीय प्रभा प्रतीकिनी का यह स्पर्श भिक्षुक को रोमांचित कर गया।

पतन की स्फुलिंग पाप का अंगार बनने के लिये तरस उठी।

भिक्षुक शिथिल हो गया।

तथागत के उपदेश उसके मन-मन्दिर में गूँज उठे—"तरुण युवती भगिनी सदृश्य होती है। उसे प्रत्येक श्रमण को उसी दृष्टि से देखना चाहिये। यदि वह मन में तनिक भी कलुषित विचार लाता है तो वह अपराधी है।"

तब अनात्मावादी ने मन-ही-मन पढ़ा—"परित्राण-धर्मदेशना।"

और जैसे उसकी चेतना लौट आई हो, वैसे सजग होकर वह वासवदत्ता को मर्मभेदी दृष्टि से निहारने लगा। अब उसके दिव्य-चक्षुओं को वासवदत्ता के उतेजित रूप में सात्विक रूप का दर्शन हुआ।

वह मन-ही-मन कह उठा—"यह तो मेरी भगिनी है, भोली-भाली.......।"—सोचते-सोचते भिक्षुक ने उसके भाल का एक चुम्बन ले लिया।

इस बार वासवदत्ता भी विस्मय विमूढ़ हो गई।

वासना के उद्याम के कारण पतन के भंवर में थपेड़े खाता हुआ सुन्दरी का मन पल भर के लिये स्पन्दन हीन हो गया—"यह चुम्बन क्यों लिया भिक्षुक ने मेरा? क्या भिक्षुक ने मेरा प्रणय....!"

और भिक्षुक सोच रहा था कि इस विस्मृता को परमार्थ के पथ पर कैसे लाऊँ?

"देवी! अपने को किंचित रोको।"—भिक्षु ने कहा।

"रोकना कठिन है प्रिये!"—शब्द अधर कूल से टकराये कि

वासवदत्ता ने भिक्षुक को अपनी बाहुओं में भर लिया। दो तप्त-अतृप्त अधर भिक्षुक के अधरों पर जा टिके।

वासवदत्ता ने अनुभव किया कि धरती पर कम्पन आ गया है।

भिक्षुक ने तथागत का ध्यान धर करके विनीत-मौन स्वर में अपने आपको कहा—"भगवान मेरी पवित्र भावना को अखंड रखे।"

एक अदम्य उत्साह भिक्षुक के अंग-प्रत्यंग के छा गया।

नेत्र बन्द हो गये।

वासवदत्ता के अधर भिक्षुक को निर्विरोध तथा चेतनाहीन समक्ष करके विलग हो गये। लेकिन जब उसने देखा कि भिक्षुक तो आनन्द में मग्न है तो वह पुनः अधरों का चुम्बन लेने लगी।

भिक्षुक ने नेत्र खोल दिये।

स्नेह से वासवदत्ता के सिर पर हाथ फेर कर शान्त स्वर में बोला—"तुमने अधरों का चुम्बन लेना क्यों रोका? चुम्बन लेकर अपनी आत्मा को तुष्ट कर लो। मेरी आत्मा का कथन है कि तुम मेरे अधरों का ही नहीं, युग्म कपोलों पर अपने स्नेहभरे चुम्बनों का आवर्तन विस्तृत कर दो ताकि तुम्हारा हृदय उन्वेग शान्त हो जाय।"

यह सुनकर वासवदत्ता गर्वमयी साम्राज्ञी-सी उसके समक्ष तन कर खड़ी हो गई।

भिक्षुक के विहँस कर उसके सिर पर एक हलकी चपत मारी—"बावली कहीं की।"

यह सुनकर वासवदत्ता अनिमेष दृष्टि से भिक्षुक को निहारने लगी। वह समझ नहीं रही थी कि भिक्षुक का गाम्भीर्य कहाँ लोप हो गया?

"क्या मुझ से रुष्ट हो गई हो ?"—भिक्षुक ने कहा—"आओ,......
आओ न !.......मेरे समीप आओ ?"

वासवदत्ता शंकित-सी भिक्षुक के समीप आई।

भिक्षुक ने उसे अपने अंक में लेकर कहा—"तुम्हारा हठ मुझे बहुत प्रिय लगता है।"

"...।"—वासवदत्ता तो भी मौन रही।

"तुम तो नितान्त नादान हो ! अभी तो अबोध हो न ! मूक क्यों बैठी हो ?...अरी कुछ बोलो न ?"

"...।"—वासवदत्ता कुछ भी नहीं बोली लेकिन उसने देखा कि भिक्षुक के तारुण्य सम्पन्न आनन पर वृद्ध का भोलापन क्रीड़ा कर रहा है।...मैं उसके समक्ष एक नन्हीं अबोध शिशु सी लगती हूँ, नितान्त छोटी !

"भिक्षुक !"—स्वतंत्र होकर चीख उठी वासवदत्ता !

"रुष्ट हो गई ! अच्छा, अब मैं चलता हूँ।"—भिक्षुक चलने को उद्यत हुआ।

"और मेरी अधूरी पिपासा ?"

"पूर्ण होगी ?"

"कब ?"

"समय पर।"

"वह समय कब आयेगा ?"

"एक पक्ष के पश्चात् !"

भिक्षुक चला गया।

वासवदत्ता का अन्तिम नृत्य नहीं हो सका।

वह रोष में भर आई।

× × ×

प्रातः समीरण के शीतल झोंके वातायन से आ-जा रहे थे।

गृहलक्ष्मी के शयनकक्ष के दर्पण के सम्मुख खड़ी देविका अपने कुन्तलों को संवार रही थी। संवारते संवारते वह सोच रही थी—"गृह कलह से इस गृह का नाश संभव है।"

"स्वामी का बाले के नयन जाल में उलझ कर स्वामिनी की उपेक्षा, उपेक्षा ही क्या, दुर्व्यवहार एक न एक दिन इस गृह की इन भव्य प्राचीरों को धराशायी कर ही देगा तब यह गौरवशाली कुटुम्ब प्रताड़ना का जीवनयापन करेगा।"

"बाले गृहलक्ष्मी की सेविका है लेकिन इन दिनों जो उसका व्यवहार-बर्ताव देखा जा रहा है, उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि बाले ही मनु की धर्मपत्नी है, गृहलक्ष्मी तो एक दासी?"

"....और बाले! अमंगलकारी सत्य का सम्बल लेकर कितनी कटु, घृणित और उपेक्षणीय हो गई है?"

देविका को आश्चर्य होता था और कभी-कभी वह सोचती भी थी कि क्या यही वह बाले है जिसे मनु ने क्रय की थी? जो करुण थी, जो शान्त थी, जो भोली थी, जो दयनीय भी। लेकिन यह तो...?"

देविका सोचती जा रही थी।

तभी बाले का आधिपत्य भरा स्वर सुनाई पड़ा—"देविका!"

"जी?"—देविका ने उसकी ओर बिना देखे ही कहा।

"यहाँ पर नहीं हो क्या ?"

"तात्पर्य ?"—बाले से देविका के नयन टकरा गये।

"तभी तो सिर नत करके प्रणाम नहीं किया ?'''मैं इस अशिष्टता को सहन नहीं कर सकती।"—तुनक कर कहा बाले ने।

"मैं क्षमा याचना माँगती हूँ।"

"हाँ, सदैव शिष्टता का ध्यान रखा करो ?"—अपने तम स्वभाव को नयनों प्रदर्शित करती हुई बाले बोली—"शयनकक्ष में जाकर श्रेष्ठिवर से प्रार्थना करो कि बाले आप से इसी क्षण भेंट करना चाहती है।"

"आज्ञा !"—देविका चली गई।

बाले दर्पण में अपने शृङ्गार को सुव्यवस्थित करने लगी।

विगत् जीवन में उसने एक वारमुखी का ही जीवन व्यतीत किया था। मनु के संग उसका सम्बन्ध था जो था ही, उसने गुप्त रूप से एक दंडपांशुल से भी अपना सम्बन्ध जोड़ लिया था। जब मनु उसके कक्ष में नहीं आता था तब वह दंडपांशुल आता था। वह दंडपांशुल को हृदय से चाहती थी क्योंकि वह भी उसे अत्यन्त चाहता था। लेकिन एक दिन मनु ने उन दोनों की प्रेम-क्रीड़ा का अवलोकन कर लिया।

तब ?

एक भयंकर समस्या उपस्थित हो गई थी। ऐसे भयभीत क्षण बाले के जीवन में नहीं आये थे। मृत्यु उसके चतुर्दिक चक्कर निकालने लगी थी। वह काँप रही थी।

और मनु ?

उसकी, आँखें कह रही थीं—"बाले ? तुम्हारा अन्त निश्चित है।"

तब मनु ने बाले को पदाघातों से अचेत कर दिया।

दंडपांशुल के वक्ष पर लोहे की तपी श्लाखें चिपका दीं।

कितना करुण क्रन्दन कर रहा था वह दंडपांशुल लेकिन मनु को तनिक भी करुणा नहीं आई।

वह उसे पीटता गया, केवल पीटता गया।

बाले देखती रही। उसके नयनों से रक्त प्रवाहित हो रहा था।

जब मनु श्रान्त हो गया तो उसने दो अन्य दंडपांशुलों को आज्ञा दी कि इसे इसी अवस्था में घोर वन में छोड़ आओ ताकि यह क्षुद्धा से आकुल मारा-मारा भटके और जल विहीन मीन की भाँति अपने प्राणों का त्याग करे।

उस दिन से आज तक बाले और मनु के मध्य पुनः द्वन्द्व नहीं हुआ। दोनों अब प्रसन्न थे। बाले मनु को अपना तन देती थी और मनु उस तन के परिवर्तन में उसे अन्न दिया करता था।

धीरे-धीरे बाले मनु के मन की साम्राज्ञी बनने लगी। इसे गृहलक्ष्मी सह न सकी। दोनों में सदैव संघर्ष होने लगा। बाले अपने मन की समस्त शिष्टता और सभ्यता का त्याग कर चुकी थी। वह तो स्पष्ट कहा करती थी कि मैं क्या करूँ? मेरे स्वामी ने मुझे क्रय ही इसीलिये किया है कि मैं अपना सर्वस्व उनके चरणों में भेंट करूँ?

परिचारिकाओं पर वह अत्यन्त कुढ़ती रहती थी। जो कोई उसकी तनिक भी उपेक्षा कर देती उसे वह पीट देती थी।

किंकरी की करुणा कृपण बन चुकी थी।

शील लुप्त हो गया था, सौहार्द्र समाप्त हो गया था।

अब एक ही आकांक्षा थी जिसे वह स्वयं नहीं जानती थी।

देविका ने आकर कहा—"स्वामी ने आपको अपने कक्ष में ही आमंत्रण दिया है।"

"....।"—बाले अहम् से अकड़ कर उस ओर चली।

मनु शय्या पर शायित अब भी जम्हाइयाँ ले रहा था। उसके कुन्तल स्नेहहीन-शृंगार हीन थे। वसन भी अस्त-व्यस्त थे।

बाले को देखते ही मन्द स्मित उसके अधरों पर धावित हो गई—"आओ बाले, आओ?"

"यह द्वन्द्व और कितने दिन चलेगा?"—बाले ने प्रणाम करके कहा।

"कौन-सा द्वन्द्व?"—जैसे मनु कुछ भी नहीं जानता है।

"गृहलक्ष्मी से! वह आपकी अनुपस्थिति में मेरे सौंदर्य और माधुर्य को कोसती रहती है, ऐसा क्यों?...मैं आपकी चरण धूलि हूँ और वह आपके मन मन्दिर की मूर्ति लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मैं आपके चरण-स्पर्श से भी वंचित रहूँ?"

मनु ने तुरन्त पूछा—"वह तुम्हारे साथ ऐसा बर्ताव करती है?"

"प्रमाण भी दे सकती हूँ कि आपकी हृदय साम्राज्ञी कितनी नृशंस है?"—स्वर तीव्र था।

"नृशंस?....क्या कहती हो बाले?"

"सत्य कहती हूँ, देखिये!"—कहकर बाले ने अपने आँचल को उतार करके कंचुकी को खोला तो उरोज पर एक नीला चिन्ह लगा हुआ दिखाई पड़ा। इस नीले चिन्ह को देखते ही मनु सिहर उठा। उसकी पलकें स्थिर हो गईं।

"यह क्या?"

"आपकी धर्मपत्नी का धर्म कार्य?"—मुख घूमा लिया बाले ने।

"वह इतनी निष्ठुर हो गई है?"—खड़ा हो गया मनु।

"प्रमाण प्रत्यक्ष है, कथन की क्या आवश्यकता?—स्वर शान्त था बाले का।

"तुम यहीं बैठो, मैं आता हूँ।"—कहकर मनु कक्ष से बाहर हो गया।

बाले पात्र में पड़े दाड़िम के दानों को चबाने लग गई थी। जैसे मनु के विचारों का इतना घोर आन्दोलन उसके लिये साधारण है।

वातायन से धूप की किरणें आने लग गई थीं। पवन स्तब्ध थी पर मन चलायमान था—"आज इस गर्विता का गर्व चूर करूँगी। कल अशिष्टता से बोली थी, स्वर्ण-पात्र से मेरे उरोज पर प्रहार भी किया था। पर आज उन सब अपमानों का प्रतिशोध लूँगी।... अवश्य लूँगी।"

आने की आहट पाकर वह सँभली।

गृहलक्ष्मी के संग मनु ने प्रवेश किया। मनु का चेहरा तमतमाया हुआ था। श्वाँस की गति हृदय में कितना क्रोध है, बता रही थी।

कक्ष में प्रवेश करते ही उसने बाले के उरोजों पर से कंचुकी को हटाकर उस नीले चिन्ह को संकेत करके कहा—"यह क्या है?"

"मैं क्या जानूँ?"—उपेक्षा से कहा गृहलक्ष्मी ने।

"तुम क्या जानो! अभद्र! मैं तुम्हारे स्वभाव को ठीक कर दूँगा।"—मनु गृहलक्ष्मी की ओर उन्मुख हो गया।

"आप तो ठीक करेंगे ही, एक क्रीतदासी के समक्ष मुझे अपमानित करते आपको तनिक भी संकोच नहीं आता।"—गृहलक्ष्मी भड़की।

"नहीं आता; जाओ।"—दहाड़ से कक्ष ध्वनित-प्रतिध्वनित हो उठा।

"क्यों जाये? जिन्होंने अपनी आन को विस्मृत कर दिया है, वे देवता के मस्तक के पुष्प थोड़े ही बन सकते हैं, वे तो पगों से कुचल जाने वाले कीट ही बनेंगे।"—गृहलक्ष्मी भी आज शान्त नहीं हो रही थी। उसकी मुद्रा से स्पष्ट प्रतीत होता था कि आज वह निश्चय करके ही आई थी कि जो उसे एक कहेगा, वह सुनेगा भी।

"मैं कहता हूँ कि तुम मौन हो जाओ!"

"नहीं होऊँगी, जब तक आप इस क्षुद्रदासी को मेरी आँखों के सम्मुख से नहीं हटायेंगे तब तक यह वाणी अवरुद्ध नहीं होगी।"—गृह-लक्ष्मी के नयनों में अश्रु छलक आये।

"मेरे पर दोषारोपण करना व्यर्थ है। मैं तो कहती हूँ कि मेरे स्वामी मुझे अभी ही मुक्त कर दें,...मैं तो अपने भाग्य की विधायिका हूँ। जब तक यह यौवन है तब तक कितने ही श्रेष्ठिवर भी हैं?"—बाले ने गृहलक्ष्मी पर व्यँग मारा और मनु पर उपालम्भ किया।

"तुम्हारी वाणी रुद्ध नहीं होगी और तुम्हारे लिये कितने सेठिपुत्र हैं।"—एक शीघ्र-दीर्घ श्वाँस तजकर मनु अग्निशिखा सा भड़क उठा—"तुम्हें अपनी वाणी अवरुद्ध करनी ही होगी?"

"नहीं करूँगी।"

"नहीं करेंगी?"—मनु गृहलक्ष्मी के सन्निकट था।

"हाँ-हाँ ! नहीं करूँगी !"—क्रन्दन कर उठी गृहलक्ष्मी।

"मौन हो जाओ !"—प्रहार के लिये मनु का हाथ उठा, लेकिन वे अपना कार्य नहीं कर सके। जहाँ थे वहीं पर रुक गये।

गृहलक्ष्मी काँप रही थी।

अश्रु नयनों से पूर्ण वेग से प्रवाहित हो रहे थे।

बार-बार बोलने का प्रयास करती थी, लेकिन रोदन उसे बोलने नहीं देता था।

अन्त में वह कम्पन भरी वाणी में चीख पड़ी—"रुक क्यों गये, प्रहार करके मुझे इस संसार से ही विदा कर दो, तुम्हारा पथ प्रशस्त हो जायेगा, तुम्हारा जीवन मुदित हो जायेगा,......करो न प्रहार !"

मनु झुँझला उठा—"तुम सब मुझे विनष्ट करने को तत्पर हो !"

"ऐसा क्यों नहीं कहोगे, अपने मान का ध्यान न धर कर एक क्रीत-दासी से......।"

"ओष्ठिवर। मैं यहाँ नहीं ठहर सकती !"—दामिनी धरती पर धराशायी होकर लुप्त होती है ठीक उसी प्रकार पलक झँपते वाले ने गर्जना की और कक्ष से बाहर हो गई।

मनु तड़प कर रह गया।

व्यर्थ वितण्डा नहीं थी यह, एक जटिल समस्या थी जिसका समाधान मनु अपने प्रभुत्व से नहीं निकाल सका। रोष, आक्रोश और शक्ति समस्या का समाधान नहीं कर सकी।

पराजित हो गया मनु।

काँपता हुआ बोला—"सारथी से कहो कि रथ तैयार करें, मैं एकान्त चाहता हूँ।"

रथ में मनु क्लान्त सा बैठा था।

मन्द-मन्द-मन्थर गति से रथ चल रहा था।

नगर के घने जनपद से रथ दूर निकल आया था।

यह सरिता-कूल था।

वासवदत्ता भी अपने रथ में उन्मन-सी बैठी थी।

मनु के रथ को देखकर उसने नाक-भौं सिकोड़ लिया।

मनु ने पुकारा—"वासवदत्ता!"

"........।"—वासवदत्ता मौन रही।

"रुष्ट हो!"—मनु का रथ वासवदत्ता के नितान्त निकट था।

"......।"—वासवदत्ता ने अपने सारथी से कहा—"रथ की गति द्रुत करो।"

मनु के देखते-देखते वासवदत्ता का रथ दृष्टि-ओझल हो गया।

मनु क्रोधित होकर हुँकार उठा—"हुँ!"

रजनी का आगमन हो चुका था।

तारों भरे नीलाम्बर के मध्य निशेश अपनी सम्पूर्ण कलाओं से दीप्त हो रहा था।

उसकी ज्योत्स्ना से वासवदत्ता का अलिन्द क्षीर की सदृश्य श्वेत लग रहा था।

मलय-पवन का झोंका उसकी प्रसन्नता में प्रमाद भर रहा था।

आज वह गम्भीर होकर सोच रही थी कि भिक्षुक ने उसके साथ ऐसा व्यवहार क्यों किया? क्या वह मुझे अबोध बालिका समझता है?'

अपने आप ही उसने उस प्रश्न का उत्तर दिया—"उसका व्यवहार वास्तव में अद्भुत था! सत्वरता से निर्णय निश्चित करना तनिक दुरूह है।"

"फिर भी भिक्षुक की गतिविधि से तो......?"

"हाँ, भिक्षुक का जो बड़प्पन है, वह केवल एक छल है, एक कृत्रिमता है, सोचता होगा कि मुझसे प्रीत करने पर लाँछित होना पड़ेगा! संसार में मुझे नत होकर चलना पड़ेगा। समस्त व्यक्तित्व और प्रभाव से हाथ धोना पड़ेगा।" —वासवदत्ता सोच रही थी।

"........और यदि यह सही नहीं है तो क्या भिक्षुक प्राणी मात्र में निवासित काम का शोषण कर सकेगा?"......नहीं, नहीं, यह असम्भव है। काम पर विजय प्राप्त करना सहज बात नहीं। जीवन से पलायन करने वाले दूर प्रान्तर में जहाँ विपरीत काम की छाया भी दृष्टिगोचर नहीं होती, वहाँ भी प्राणी क्या, जीव-जन्तु स्वतः ही रति-क्रिया का ज्ञान सीख जाते हैं, और यह करुण-तरुण भिक्षुक जो मेरे जैसी पारिजात कुसुम तुल्य सौन्दर्यमयी, विलास के वारीधि में तरंगित होने वाली के संग रह कर इस भयानक रिपु से अपने प्राण का त्राण कर सकता है?"

वासवदत्ता की भृकुटियाँ तनिक ऊपर की ओर उठ गईं।

उसकी तर्जनी उसके अधरों के मध्य टिक गई।

सोती सोती उठ कर बैठ गई।

दूसरे हाथ से शय्या पर आच्छादित मृदुल वस्त्र को सहलाने लगी।

अल्प काल तक वह इसी भाँति विचारमग्न रही। अप्रत्याशित उसके अधर फड़क उठे—"कदापि नहीं। अनल के समक्ष स्वर्ण का गलना अनिवार्य है। नारी के समक्ष नर का पराभव अवश्यमेव है।"

"तो .....?"—हर्ष से पुलक उठी वासवदत्ता—"तो भिक्षुक भी कृत्रिम उपेक्षा और विरक्ति के प्रदर्शन के पश्चात् मेरे प्रेम को स्वीकार कर लेगा, मेरे आत्म-समर्पण को हृदय से अंगीकार कर लेगा?........ निस्सन्देह ही।"

सोचते-सोचते वासवदत्ता की आँखों में प्रसन्नता दीप्त हो उठी। —"यदि भिक्षुक मेरी ओर आकर्षित नहीं होता तो क्या वह मेरा बार-बार आतिथ्य स्वीकार करता?"

वासवदत्ता को इस विचार ने उसकी सफलता को बड़ा सम्बल दिया।

वह निश्चय कर बैठी कि यदि भिक्षुक उस पर मोहित नहीं होता तो इस भवन में मेरे प्रत्येक आमन्त्रण पर आगमन नहीं करता। तब तो वह मुझे दूर रहने के लिए हार्दिक चेष्टा करता, लेकिन भिक्षुक ने निर्विरोध उसके प्रत्येक आमन्त्रण को स्वीकार किया।....तो....तो? ......हाँ! भिक्षुक मेरे पर आसक्त है।"

विचार निर्णय में बदल गया।

वासवदत्ता प्रसन्नता से झूम उठी—"जीवन में सर्वस्व है, एक अपना नहीं, यदि वह हो जाय तो···?"

जैसे शूल हृदय में चुभ कर मार्मिक पीड़ा का संचार करता है, वैसे ही वासवदत्ता के हृदय में जलन होने लगी।

उसे रह-रह कर पश्चाताप आ रहा था कि वह संन्यासी को अपना अन्तिम नृत्य क्यों नहीं दिखा सकी, अपने जीवन का सफल नृत्य ?

अतः उसने मन-ही-मन निश्चय किया कि वह नृत्य करेगी, अवश्य नृत्य करेगी और नृत्य देखेंगी—ये प्राचीरें और देखेगा उसका अनात्मावादी।

वह मत्त-मयूरनी-सी अपने उत्तरीय को विस्तृत कर के नृत्य करने लगी।

वह अपने को विस्मृत कर बैठी, अपने उल्लास को विस्मृत कर बैठी, अपने समस्त वातावरण को विस्मृत कर बैठी।

उसे आभास हुआ कि भिक्षुक मन्त्र-मुग्ध सा बैठा है—सामने रखी हुई चन्दन की वेदी पर।

उसके अपलक नेत्र उसके नयनाभिराम नृत्य का अवलोकन करने में मग्न है। उसके रोम-रोम में मादक-भाव जाग्रत हैं।

उसके मंगलमयी मुख पर चमकते हुए दो तारें मानो कह रहे हैं कि जीवन की अभिव्यक्ति आनन्द है और आनन्द अनात्मा में नहीं हो सकता। आनन्द के लिये आत्मा चाहिये, ऐसी आत्मा जिसमें अनुभूति हो।"...

"मेरा अनात्मा का पुजारी भिक्षुक भी अब......!"—

घूँघरू बजने लग गये थे।

न सम, न मृदंग, न मंजीर।

केवल नृत्य, एकाकी नृत्य, वासवदत्ता की उन्मत्तता का रंगीन दृश्य। भव्य कला का प्रदर्शन।

आवर्तन पर आवर्तन।

एक-दो-तीन और कितने ही!

धम् की ध्वनि के साथ वासवदत्ता नृत्य से श्रान्त होकर शय्या पर पड़ गई।

तालि-वादन से अलिन्द गूँज उठा।

वासवदत्ता मदहोश-सी कह उठी—"तुम आ गये भिक्षुक ?"

"भिक्षुक, नहीं, मनु!"—मनु वासवदत्ता के नितान्त पार्श्व था।

वासवदत्ता अपने परिधानों को सुव्यवस्थित करती हुई, संभलकर घृणा से बोली—"तुम दंडपांशुलों से छल करके यहाँ कैसे आ गये ?"

"मैं क्या जानूँ ?"

"तुम नहीं जानते ?"

"नहीं सुन्दरी! तुम्हारे सजग प्रहरियों से मैं अपने आपको रक्षित करता हुआ, मैं यहाँ कैसे पहुँच गया, स्वयं नहीं जानता,......हाँ, यदि तुम जानना चाहती हो तो मन उत्तर दे सकता है ?"—कह कर मनु ने अपना मुख दूसरी ओर घुमा लिया।

"मन उत्तर क्या देगा !......उत्तर तो तुम्हें ही देना पड़ेगा ?"

"उत्तर मुझे देना पड़ेगा ?"—खिलखिलाकर हँस पड़ा मनु—"वासवदत्ता! तुमने अपने रूप के आकर्षण से मेरी मति को भ्रष्ट किया, मेरे धन को नष्ट किया, मुझे धृष्ट किया, तो भी मैं तुम्हें प्यार करता हूँ, हृदय से चाहता हूँ।......और एक तुम हो जो कि मुझे तिल-तिल जलाती हो। ऐसा क्यों ?"—मनु के नयनों में करुणा थी।

"मुझे तुम से घृणा है। मैं चाहती हूँ कि तुम सदैव यहाँ आओ और मेरी आवश्यकताओं की पूर्ति करके चले जाओ। मैं तुम्हें कृत्रिम

प्रेम में बहलाये रखूँ, मधुर बातों से सहलाये रखूँ, बस।"—वासवदत्ता ने उसे झिड़क दिया।

"तुम सब कुछ करो, मुझे कोई बाधा नहीं, लेकिन जो एक वस्तु तुम से माँगता हूँ, वह दे दो?"—मनु का स्वर आर्द्र था।

"वह क्या?"—विभ्रम दृष्टि से देखा वासवदत्ता ने।

"स्पष्ट शब्दों में कहूँ?"

"हाँ, नितान्त निर्ममता से?"

"तुम्हारा आत्म-समर्पण!"

"मेरा आत्म-समर्पण!"

"हाँ वासवदत्ता! मैं तुम्हें विश्वास से कहता हूँ कि जीवन भर तुम्हारी प्रत्येक अभिलाषा को पूर्ण करता रहूँगा।"

"यह मेरे बस का नहीं है।"

"तब?"

"तब क्या?"

"इसका परिणाम भयंकर हो सकता है।"

"आज कोई अनिष्ट करने को आये हो क्या?"

"हाँ! आज प्रभात से ही अनिष्ट होते जा रहे हैं। दो को पदाघात कर चुका हूँ और अब तुम्हारे पास अपने प्रेम का प्रतिफल लेने आया हूँ?"—मनु का स्वर कर्कश हो गया।

"प्रेम या वासना का?"

"यह वारमुखी स्वयं समझे लेकिन मैं इतना ही कहूँगा कि उस साधना का जिसने मेरे ज्ञान तक का हनन किया।"

"वह साधना कैसी जो ज्ञान को मिटा दे। तुम आभिजात्य वर्ग के प्रतीक हो जो केवल धन से यौवन को क्रय करना चाहता हो। मैंने भी अपने धर्म का पालन किया है। तुम्हारे धन के परिवर्तन में अपने अनुपम नृत्य और मादक स्पर्श प्रदान किये हैं। अतः अभी तुम्हारा गमन करना ही श्रेयस्कर है क्योंकि तुम्हारा चित्त उद्विग्न है।"

मनु ने श्वेत वस्त्र में आवेष्ठित हीरक जड़ित कटार निकाली। उस पर हाथ फेरकर कुंठित स्वर में बोला—"चला जाऊँ, बिना किसी निर्णय के ?"

"क्या निर्णय चाहते हो ?"—वासवदत्ता के नयन द्वार की ओर गये।

मनु उसके नयनों की गति का तात्पर्य समझ गया।

उसने लपक करके द्वार बन्द कर लिये।

वासवदत्ता के चेहरे पर भय मूर्त हो उठा। उसने अलिंद में अपनी स्थिर पलकें दौड़ाईं। अपने अतुल वैभव में उसका अपना श्वाँस घुट-सा रहा था।

हठात् एक भयंकर विचार उसके हृदय से धावित हुआ। वह काँप उठी—"कहीं मनु ने यह कटार...?"

वह हड़बड़ा उठी—"तुम चले जाओ मनु! मैं आज्ञा देती हूँ कि तुम चले जाओ!"

"अपने श्रमदान का प्रतिदान लिये बिना ही?

"तात्पर्य ?"

"बार बार मैं तात्पर्य नहीं समझा सकता!"

"......!"—वासवदत्ता मौन रही।

"जो मैं चाहता हूँ, उसे मुझे निर्विरोध करने दो, अन्यथा वासवदत्ता परिणाम भयंकरतम भी हो सकता है ?"

मनु की अंगुलियाँ भयभीत वासवदत्ता के ग्रीवा मूल पर पड़ी जहाँ उसके ही द्वारा प्रदत्त पुखराज मणि दीपिका के प्रकाश से झिलमिला रही थी।

वासवदत्ता ने जब उसका विरोध किया तो वे अंगुलियाँ लोह मेखला सी उसकी ग्रीवा को दबोचने लगी।

वासवदत्ता ने सतृष्ण नेत्रों से मनु की ओर देखा।

मनु ने उसे मुक्त कर दिया—"चिल्लाने का प्रयास किया तो इस कटार से तुम्हारे प्राण ले लूँगा।"

यह सुनकर वासवदत्ता आहत सर्पिणी-सी फुत्कार उठी—"श्रेष्ठ सामन्त! निर्बल की परिस्थिति का अनुचित लाभ उठाकर आप भी सुख से नहीं रह सकते। इसका परिणाम अच्छा नहीं होगा !"

मनु की त्यौरियाँ बदल गईं।

काम के अंक में सुप्त उसका उत्तेजित-पथ-विस्मृत मन एक गणिका की यह चुनौती सुनकर तप्त हो उठा—"परिणाम से मनु को न रंचमात्र भय है, न अणुमात्र चिंता। पर आज तुम्हारी नयनों की मादकता का यह अनाहूत अवश्य पान करेगा। तुम्हारे अधर-आसव से अपने अतृप्त अधरों को तृप्त करेगा। तुम्हारे यौवन की आँधी को अपने यौवन के झंझा में विलय करेगा।...बोलो सुन्दरी! प्रतिरोध की क्षमता है ?"

"नहीं।"

"तो तैयार हो जाओ ?"

वासवदत्ता संकट से आकुल होकर, विचलित होकर दूर खड़ी हो गई।

रक्ताभ चेहरे पर पीतावरण छा गया। कुछ बोलने का प्रयत्न करने पर भी नहीं बोल सकी। मनु की भुजायें अजगर की भाँति वासवदत्ता के तन के चतुर्दिक अपना वितान तानने लगी।

देखते-देखते वासवदत्ता मनु की क्रोड़ में थी।

मनु ने उसके अधरों पर अपने निर्मम अधर रख दिए।

वासवदत्ता छटपटा उठी।

मनु ने कटार दिखा दी।

वासवदत्ता मौन हो गई—नितान्त मूक।

मनु के अधर पुनः वासवदत्ता के अधरों पर जा टिके।

वासवदत्ता चीत्कार कर उठी—'छोड़ दो मनु, छोड़ दो। मैं कहती हूँ छोड़ दो, पतित, नराधम, छली, छोड़ दो मुझे,''''छोड़ दो।"

वासवदत्ता जितनी उन्मुक्त होने का प्रयास कर रही थी, मनु उसे उतना ही जकड़ रहा था।

उसके नेत्रों में यम नाच रहा था।

वासना अपराध करने के लिये तत्पर हो गई थी।

मनु के अधर उठे और कपोलों पर टिक गये।

वासवदत्ता पुनः सिसक पड़ी—"छोड़ दो मनु, मुझे छोड़ दो।"

मनु ज्वालामुखी-सा भड़का—"मायाविनी! तन में छल, मन में छल, जीवन में छल, प्रत्येक संकेत में छल!'''छलनामयी! बहुत दिनों कटाक्षों के मिथ्या आश्वासनों में उलझे रहा पर आज सत्य नग्न होकर

सामने आ गया है। अब हृदय का उमड़ा घनघोर घन बिना बरसे नहीं रह सकता।"

"यह अन्याय है!"

"अन्याय का घोष करने वाली उस समय तुम्हारा न्याय कहाँ चला गया था जब मैं पालित पशु की भाँति तुम्हारे प्यार की एक धार के लिये तरसा करता था।"

"तुम प्यार करना जानते ही नहीं? यदि तुम्हीं लोगों में प्यार करने की शक्ति होती तो तुम्हारी, तुम्हारे समस्त समाज की स्त्रियाँ अपने भृत्यों का उष्ण स्पर्श, जाग्रत कम्पन, तरल उन्माद नहीं लेती! श्रीमन्तों और सामन्तों के भवनों में भ्रष्टाचार पवन की भाँति विस्तृत है। उसकी कोई परिधि भी नहीं!"

"सुन्दरी! क्रोधावेश में तुम मुझे अनर्गल प्रलाप करके भटकाना चाहती हो। आज मैं सर्वप्रथम अपना निर्णय करूँगा, अपनी पिपासा को पूर्ण करूँगा, उस पिपासा को जो युगों से मधु की आहुति प्राप्त करती-करती अग्नि-कुंड की भाँति दहक रही, ज्वलित हो रही है, उसे तुम्हारे शीतल स्पर्श से शान्त करूँगा।"—बाहुपाश और लघु हुआ।

वासवदत्ता तड़प उठी।—"बलात्कार मत करो मनु!"—स्वर विनीत था।

"मैं कर रहा हूँ या तुम मुझे करने के लिये विवश कर रही हो।"—मनु के स्वर में प्रतिहिंसा की आग थी।

"यह अपराध है।"

"जानता हूँ गणिके ! किसी से विश्वासघात करना भी तो अपराध है। अतः एक अपराध तुम ने भी किया है। अतः तुम्हें भी दंड मिलेगा।"—और देखते-देखते कामोत्तेजित मनु ने ताम्बुलरंजित अधरों का पुनः चुम्बन लेना प्रारम्भ कर दिया। वासवदत्ता के करों को बाँध करके उसकी कंचुकी को जीर्ण करने का प्रयास किया।

क्या करती वासवदत्ता ? चीख नहीं सकती थी। उसकी चीख ही उसकी मृत्यु थी। अतः वह मनु को टुकुर-टुकुर दयनीय दशा से देखने लगी।

मनु का विवेक वासना के वशीभूत था—केवल वासना के।

वासवदत्ता ने अपनी पूर्ण शक्ति से उसे धक्का मारकर भूमिसात कर दिया। मनु निराहार सिंह की भाँति वासवदत्ता पर झपटा। वासवदत्ता ने उसका अपनी समग्र शक्ति से प्रतिरोध किया।

यह क्या ?

प्रकाश में चमचमाती कटार वासवदत्ता के कर में मृत्यु सी भयानक होकर चमक उठी।

मनु ने एक जोर का अट्टहास किया।

सारा कक्ष गूंज उठा। काँप उठा।

वासवदत्ता के नयनों में ज्वालायें जलने लगी। रणचंडी-सी विकराल होकर उसने मनु को रोका—"भला चाहते हो तो बाहर निकल जाओ, अन्यथा प्राण से हाथ धोना पड़ेगा।"

चेतावनी व्यर्थ गई।

मनु के विवेक में 'काम' का प्रभाव हो चुका था। उसी प्रकार वह पैशाचिक अट्टहास करके वासवदत्ता पर झपटा—"अप्रतिष्ठामयी, छलना, आज तुम्हारे सौन्दर्य को कलंकित करके ही रहूँगा।......तुमने मेरे हृदय में जो प्रहार किये हैं, उन्हें मैं कदापि विस्मृत नहीं कर सकता। अब जाना मेरे सामने प्रवासी व्यापारी के संग जल-बिहार करने, उस भिक्षुक से नयन मिलाने, मुझे मिथ्या बहानों से टरकाने ?"

"मनु दूर रहो,.......मैं कहती हूँ कि तुम दूर रहो अन्यथा।"—भय और रोष के मारे वासवदत्ता का अंग-प्रत्यंग काँप रहा था। उसकी वाणी चीत्कार में परिवर्तित हो गई थी। पर मनु को इस परिवर्तन का तनिक भी ध्यान नहीं था।

वह अंधा था। अधरों को दाँतों से काटता हुआ भयानक स्वर में बोला—"विप्रव्रजनी ! वारामुखी !! आज तुम्हें तुम्हारे छल का दंड दूँगा।....तुम ने मुझे अत्यंत कष्ट दिया है, श्वान की भाँति दुरकारा-दुलराया है लेकिन मैं जिस वस्तु को प्राप्त करना चाहता था, उसे प्राप्त नहीं कर सका। लेकिन आज...?"

मनु अंधा हो गया।

उसके आचार-विचार, वाणी, चक्षु और आत्मा, सब में वासना का समावेश हो गया। उस वासना का जो प्राणी को अपराध के लिये तत्पर कर देती है।

वह अपने दोनों हाथों को विस्तृताकार करके वासवदत्ता पर झपटा।

वासवदत्ता ने एक हृदयवेधक चीत्कार की।

उसके कर की कटार ज्वाला सी भभक उठी।

एक जोर की चीख के साथ मनु तड़पा—"नीच! कुल्टा, दुराचारिणी....।"—मनु का स्वर शान्त हो गया।

और स्वयं वासवदत्ता मनु के दुर्दान्त पर काँप उठी।

कटार उसके उदर को वीभत्स रूप में चीरती हुई नाभी तक आ गई थी।

वासवदत्ता करुण क्रन्दन की चीखें मार बैठी।

बाहर दंडपांशुल व परिचारिकायें भी आ गईं थीं लेकिन वे भी निस्पंद-सी खड़ी थीं।

मनु अल्पकाल तक वासवदत्ता को प्रतिशोध भरी दृष्टि से देखा जैसे उसकी स्थिर होती हुई आँखें कह रही हैं—"इस जन्म में नहीं तो क्या? अगले जन्म में तुम दुष्टा से अवश्य प्रतिशोध लूँगा।"

मनु ने एक जोर की हिचकी ली और इस असार संसार से चला गया।

वासवदत्ता सर्वप्रथम कटार को देखकर जड़वत् खड़ी रही। उसकी पुतलियाँ स्थिर एवं निष्प्रभ हो गईं। तब वह मनु के लहूलुहान शव पर पड़ कर सिसक-सिसक कर दारुण रोदन करने लगी।

पवन शान्त था।

वातावरण निस्पंद था।

रजन के नयन अश्रुपूर्ण थे।

तारे पीड़ा के छाले बनकर वासवदत्ता को दुःख देने लग गये थे।

काली यवनिका फटने के लिये आतुर हो रही थी।

नगर में मनु की मृत्यु का समाचार प्रत्यूष की प्रथम किरण के आलोक सा विस्तृत हो गया।

सेठिपुत्रों, लक्षाधीशों तथा वणिक-वर्ग में इस हत्या का आतंक छा गया। जहाँ खड़े होते थे, वहीं बस यही चर्चा थी।

ऐसा प्रतीत होता था कि समस्त नगर में आतंक छा गया है।

नगरपति ने अपने चरों द्वारा शव का अन्वेषण और निरीक्षण कराया। कितनी वीभत्स मृत्यु थी मनु की—नगर के प्रतिष्ठित श्रेष्ठिवर-श्रीमन्त की।

वासवदत्ता, नगर के युवकों की साम्राज्ञी आज बन्दिनी बन गई थी।

नगरपति, महासचिव, महादण्डनायक, दण्डनायक तथा नगर के प्रसिद्ध तथा प्रतिष्ठित श्रीमन्त तथा सामन्तगण न्याय-निर्णय हेतु एक सभा में एकत्रित हुए।

अत्यन्त तर्क वितर्क के पश्चात यह निर्णय किया गया कि प्राण के परिवर्तन में प्राण लेने चाहिये ; नगर के श्रेष्ठिवर मनु के प्राण के बदले में इस तुच्छ गणिका को मृत्युदंड मिलना चाहिये।

इस भयानक निर्णय से नगरपति विचलित हो गये।

उन्होंने सोचकर कहा—"गणिका वासवदत्ता के प्रति हम यह अन्याय कर रहे हैं।"

नगरपति का इतना कहना था कि उपस्थित सज्जनों में से एक अत्यन्त तरुण राजवर्गीय पदाधिकारी ने नयनों में क्रोध भर कर कहा—"गणिका वासवदत्ता ! इस घटना में सर्वथा निरपराध है। अपराध की प्रेरणा देने वाला उसका यह अलौकिक सौन्दर्य है। इस सौन्दर्य पर

विमोहित मनु उस पर आसक्त हुआ, अपराध की ओर प्रेरित हुआ अतः वासवदत्ता को सौन्दर्य-वंचित कर दिया जाय, उसको कुरूप बना दिया जाय! उसका समस्त धन तथा भवन राजकीय अधिकारी अपने हस्तांतरित कर ले।"

समस्त उपस्थिति ने अपनी स्वीकारोक्ति इसी निर्णय को दे दी।

वासवदत्ता ने यह निर्णय सुना।

सभासदों के मध्य वह शेरनी की भाँति खड़ी हो गई—"नगरपति, महासचिव, महादण्डनायक, श्रीमन्त और सामन्तगण! प्रणाम!!"

"न्याय भगवान की वाणी होती है और न्यायकर्त्ता भगवान! यदि न्यायकर्त्ता स्वार्थ और अपनत्व में अपने सिद्धान्तों और धर्म को विस्मृत करके अनुचित न्याय करते हैं, तो वे भी बड़े अपराधी हैं, इस सृष्टि के नहीं, उस सृष्टि के, जो इस चाँद-सूरज के उस ओर है।"

"मैं जानती हूँ—सामन्तों और श्रीमन्तों का नगर में प्रभुत्व है, निरंकुशता है, लेकिन नगर के नगरपति के समक्ष क्या विवशता और भय है जो अनुचित निर्णय को देवता की वाणी समझ कर मौन बैठे सुन रहे हैं?"

"मैं स्वीकार करती हूँ—मैंने मनु की हत्या की, लेकिन अपनी कटार से नहीं, उसकी अपनी कटार से। मनु वागिनी के वक्ष को चीर करके अपनी अन्तर्ज्वाल को शान्त करना चाहता था, पर वह करुणा-पात्र ऐसा नहीं कर सका। उसकी कटार उसी का भक्षण कर गई।...लेकिन क्यों! क्योंकि वह मेरी भावुक भावनाओं और लालसाओं को भक्ति से नहीं,

शक्ति से कुचलना चाहता था। वह मेरे पर बलात्कार करना चाहता था और उसने इन्हीं कपोलों को अपने विषाक्त पंजों से काटा।"

"गणवृन्द! मनु ने मेरी प्रतिष्ठा पर आघात किया?"

"गणिका अपनी प्रतिष्ठा की परिभाषा तो करें?"—एक सेट्ठिपुत्र ने कड़क कर पूछा।

"मेरी प्रतिष्ठा?......मेरी प्रतिष्ठा उन नारियों से अधिक है क्योंकि मैं समाज के अत्याचारों की नग्न सत्य प्रतिकाय होकर भी उसका भला करती हूँ, उन असन्तुष्ट मनों को शमन देती हूँ जो सन्तुष्टि के अभाव में अपराध की ओर उत्प्रेरित होते हैं, इससे देश का भला होता है। सब से बड़ी मेरी प्रतिष्ठा यह है कि मैं जिसे चाहूँ, अपना सर्वस्व प्रदान कर सकती हूँ और यदि न चाहूँ तो चरण-रज भी न दूँ!"

"तुम कुछ नहीं हो। सत्य तो यह है कि तुम धन की पुतली हो। धन के समक्ष तुम्हारा सर्वस्व है। तुम आमोद की वस्तु है, आमोद कराना तुम्हारा धर्म है।"—महासचिव ने कहा।

"यह धर्म भी तो आपके द्वारा ही प्रदत्त है। नारी को क्रीड़ा की वस्तु बनाने वाले आप ही तो हैं, न्यायकर्त्ता, धर्मात्मा और समाज-सेवक।"

"मैं पूछती हूँ।"—वासवदत्ता का स्वर और तीव्र हो गया—"मनु को क्या अधिकार था कि वह अनाहूत की भाँति मेरे कक्ष में प्रवेश करता?"

इसका अकाट्य उत्तर दिया गृहलक्ष्मी ने—"क्योंकि वे तुमसे हार्दिक प्रेम रखते थे। वे प्रायः तुम्हारे यहाँ आते-जाते थे। तुम्हारे और उनके

प्रेम-पत्रों का परस्पर सदैव ही विनिमय होता रहता था। उन प्रेम-पत्रों में इस दुराचारिणी की इतनी मधुर बातें होती थी जिसे एक पत्नी भी नहीं लिख सकती।........इनका प्रेम पत्र चलता रहा। मैं अपने पति के इस दुष्कर्म को सहन नहीं कर सकी। परिणाम यह हुआ कि अल्प काल के पश्चात् हम पति-पत्नी के मध्य घोर द्वन्द्व उठ खड़ा होता था। कभी-कभी इस कुपात्रा के कारण मेरे देव-तुल्य पति मेरे पर हाथ तक उठा लेते थे।"

एक मूढ़ सेठ्ठिपुत्र धनराज विदूषक की भाँति बेडौल मुँह बनाकर के बोला—"तुम स्त्रियाँ हम सेठ्ठिपुत्रों के विलास में क्यों बाधक होती हो। फिर तुम पर कौन विश्वास करे कि तुम भी धर्म की भाँति निष्कलंक हो। मैं जब एक गणिका के यहाँ प्रस्थान करने लगा तो मेरी सहधर्मिणी ने मेरे भृत्य के संग अनुचित सम्बन्ध स्थापित कर लिया।"

सभासदों में हँसी गूँज गई।

उस हँसी को विदीर्ण करती हुई नगरपति की आज्ञा गूँज गई।

सब मौन हो गये।

वासवदत्ता का क्रन्दन गूँज उठा—"धन से नारी की अभिलाषाओं की तृप्ति नहीं होती। आप लोग नारी को प्रमोद का साधन मात्र समझते हैं, उसकी भावाओं का उपहास उड़ाते हैं, उसकी वाणी को व्यर्थ का प्रलाप समझते हैं और जब नारी आप लोगों की सत्यता को जान कर विरोध करती है तो आप उसे किसी कुचक्र में फँसा कर दण्डित कराने का प्रयास करते हैं।........यही तो है आपका न्याय?"

तर्क वितर्क और कुतर्क चलते रहे पर कोई अन्तिम निर्णय नहीं निकला।

न्यायाधीश ने वासवदत्ता को अगले दिवस अपने को निर्दोष प्रमाणित करने के लिये प्रमाण माँगे, साक्षियाँ माँगी।

वासवदत्ता की ओर से एक भी साक्षी नहीं आई क्योंकि सेट्ठिपुत्रों ने उसके समस्त अनुचरों तथा परिचारिकाओं को धन से और भय से अपनी ओर मिला लिया था।

तब वासवदत्ता ने अबोध शिशु की भाँति रोदन करके प्रार्थना की—"मुझे कुछ दिवसों के लिये मुक्त कर दिया जाय। मैं एक बार अपने प्रेमी से इसी सौन्दर्य में भेंट करना चाहती हूँ। जब वह मुझे......नहीं, नहीं, मुझे कुरूप मत बनाओ, प्राण ले लो, पर यह रूप न लो......रूप विहीन मैं देत्या का जीवन व्यतीत नहीं कर सकती। मुझे मृत्यु-दण्ड दे दो।"

मर्मभेदी वासवदत्ता की वाणी वातावरण का हृदय विदीर्ण कर रही थी। प्रार्थना पर प्रार्थना करती जा रही थी वह, लेकिन जो निर्णय हो गया, वह परिवर्तित नहीं हो सका।

दंडगृह में जब वासवदत्ता लाई गई तो उसके कर्णों में प्रतिध्वनि की भाँति मनु के शब्द गूंज उठे—"आसक्ति की अतृप्ति में उपेक्षा और विरक्ति का प्रदर्शन, मनुष्य की स्वाभाविक दुर्बलता है। अतृप्ति की प्रतिक्रिया असन्तोष के रूप में होती है और वह असन्तोष कभी-कभी प्राणी को अपराध की ओर भी अग्रसर कर देता है।"

कल के शब्द आज सत्य हो गये।

वासवदत्ता को मनु का पुनः स्वर सुनाई पड़ा—"मेरा विवेक! मेरे विवेक की धारणा धूप छाया नहीं है जो पल-पल में परिवर्तित होती रहे। हाँ, इसका उत्तर समय देगा कि यौवन जीवन की पुण्य ज्योति है या गहन अन्धकार? क्योंकि तुम यौवन को वासना मानती हो।"

और उसके मस्तिष्क में हथोड़े की भाँति मार्मिक प्रहार करने लगे संन्यासी के शब्द—"वासना विवेक को विनष्ट कर देती है।"

वासवदत्ता पश्चात्ताप में पीड़ित होकर चीख पड़ी।

और···?

अप्रतिम सुषमा सम्पन्न सौन्दर्य देवी कुरूप बना दी गई।

उसे नगर के बाहर एक जीर्ण-शीर्ण गृह निवास हेतु प्रदान कर दिया गया।

× × ×

समय की गति का प्रवाह परिवर्तित हो गया था।

वासवदत्ता का अवर्णनीय रूप आज घृणास्पद होकर मनुष्य के वाक्य-बाणों का केन्द्र बिन्दु बन गया था।

उसके अनेकानेक प्रेमी, जो शुभ दिनों में सहस्त्र-प्रतिज्ञायें व शपथ खाया करते थे, आज उसे दृष्टि भर को देखने तक नहीं आते थे। दैवयोग से कभी इस पथ से विचर भी जाते तो उपेक्षा से अपना मुँह फेरकर चले जाते थे। तब वासवदत्ता का रोम-रोम रो पड़ता था।

दर्पण से उसे घृणा हो गई थी।

कभी-कभी किसी पथिक के रथ पर लगे दर्पण में वह अपना चेहरा देख लेती तो विक्षुब्ध-सी होकर चीखें भरने लगती थी।

वह सोचा करती थी जिस स्वर्णिम-कांति सा आलोकित चन्दन-चर्चित सुरभित तन का स्पर्श पाकर समस्त जनपद सुख की तृप्ति का आनन्द लिया करता था, आज वही तन उन्हें भयभीत करने के लिये घिनौना होकर मौन अट्टहास किया करता है।

वह दिवा रात्रि करुण क्रन्दन किया करती थी।

कभी-कभी आत्मघात करने के लिये तत्पर हो जाती थी।

दो एक बार वह सरिता के दक्षिणी छोर पर जो पार्वतीय उच्च शिला खंड था, उस पर जाकर भी वह अपने प्राणों का त्याग नहीं कर सकी थी।

क्यों नहीं कर सकी थी? इसे वह स्वयं नहीं जानती थी।

एक दुर्बलता थी, जिसे दार्शनिकों ने जीवन के प्रति मोह कहा है, कदाचित् वही उसे निर्बल कर देती थी।

अपने पर झुँझलाहट, घृणा और आक्रोश उसे प्रतिपल आता-जाता रहता था।

स्वभाव में एक विचित्र चिड़चिड़ापन और कठोरता आ गई थी।

बात-बात पर वह अपने कुन्तलों को नृशंसता से खिचकर अपने कपोलों पर अपने ही करों द्वारा प्रहार किया करती थी।

यह उसकी प्रथम मनोदशा थी।

और दूसरी—

वह दिन भर प्रस्तर की प्रतिमा की भाँति अर्थशून्य दृष्टि से अनन्त को निहारती रहती थी।

कभी-कभी वह हँस पड़ती थी, रो पड़ती थी, मुस्करा पड़ती थी।

बड़बड़ा उठती थी—"धन सृष्टि की सबसे हेय और निकृष्ट वस्तु है। अतः सर्वप्रथम देश के विधाता को उस पर अपना आधिपत्य करके, उसका सही वितरण कर देना चाहिये ताकि अनाचार-भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन न मिले।"

और कभी-कभी वह धरती को अपनी तर्जनी से खोदती हुई लिखा करती थी।—"प्रिये उपगुप्त! मेरे सर्वस्व···!! अब तुम मत आना,···· मैं प्रार्थना करती हूँ कि अब तुम मत आना, कभी भी मत आना।"—और इस प्रकार प्रणय-प्रलाप करती-करती वह लिखने लगती थी—"हत्या, मैंने मनु की हत्या की, मैं हत्यारिणी हूँ, पापिन हूँ, दुराचारिणी हूँ।"

और वह रोती रहती थी, कलपती रहती थी, तरसती रहती थी

दिवस आते थे, रात जाती थीं।

धरती अपनी धुरी पर चिरन्तन नियम से घूम रही थी!

हत्त भागिनी वासवदत्ता अपना विकृत रूप लिये दुर्दिन व्यतीत कर रही थी।

न कोई उसे अपना कहने वाला था और न ही वह किसी को अपना कह सकती थी।

केवल जीने के लिये जीवित थी।

आज प्रभात हुआ।

वह प्रभात जिस प्रभात को भिक्षुक ने वासवदत्ता का प्रणय स्वीकार करने की प्रतिज्ञा की थी।

पिपासा को पूर्ण करने का आश्वासन दिया था।

जीवन से भाराक्रान्त वासवदत्ता पथ पर जा रही थी। चिन्ताओं से उसकी मनःस्थिति ठीक नहीं थी।

अचानक उसकी मुठभेड़ एक भिखारी से हो गई।

भिखारी भी उसे पहचानता था। उसका स्पर्श होते ही भिखारी प्रतारणा देता हुआ बोला—"पापिन! तुमने मेरा स्पर्श क्यों किया? तुमने अपने विगत जीवन में रूप के अमृत को विष बनाकर कईयों का सुख हरण किया था। अब भगवान तुम्हें अपने कर्मों का भयंकर दंड दे रहा है।...मैं भी तुम्हें श्राप देता हूँ कि तू जल की एक-एक बूँद के लिये तरस-तरस कर अपने प्राण त्यागे।"

एक शुद्र समीप ही खड़ा था।

जब भिखारी मौन हो गया तो वह बोला—"मैं तो कहता हूँ कि इसकी शव में कीड़े पड़ जायँ।"

लाँच्छन्न पर लाँच्छन!

वासवदत्ता तिलमिला उठी। ऐसी भयानक मृत्यु की कल्पना मात्र से वासवदत्ता की आँखों के आगे घना अन्धकार छा गया।

उसने तुरन्त विचारा—"ऐसी निकृष्ट मृत्यु आये, इसके पूर्व ही मुझे अपने निन्दनीय जीवन का अन्त कर देना चाहिये।"

विचार निर्णय में परिवर्तित हो गया।

वह जन पथ पर आकर द्रुतगति से धावित होने वाले रथ की प्रतीक्षा करने लगी।

जन पथ पर आवागमन भी तनिक अधिक था।

कि वासवदत्ता को एक अत्यन्त रमणीक स्वर्ण-ध्वज-मंडित रथ भागता हुआ दिखलाई पड़ा।

सारे व्यक्ति उस रथ को देख रहे थे। उनका देखना स्पष्ट बता रहा था कि अवश्य ही यह रथ कोई महत्वपूर्ण व्यक्ति का है।

जब रथ थोड़ी दूर रहा तो वासवदत्ता उसके समक्ष उन्मत्ता-सी भागी।

सारे लोग विकलता से चिल्ला पड़े—"सारथी रथ रोको, रथ रोको, रथ रोको।"

अश्व बलिष्ठ थे। अधिकार में नहीं आ सके।

लोगों ने नेत्र मूँदकर मन ही मन कहा—"विवश मर गई।"

लेकिन एक भिक्षुक ने वासवदत्ता को मृत्यु के मुख से बचा लिया

एक तीव्र घोष हुआ—"मर गई।"

पर दूसरे ही पल सब ने देखा—आत्मघात करनेवाली कुरूपा युवती किसी श्रमण द्वारा बचा ली गई है।

सब लोग उस श्रमण को उसकी जय जयकार के साथ धन्यवाद देने लगे।

लोगों ने आत्मघातिन को पहचाना। सब ग्लानि से मुँह फेर कर चलते बने—"दुराचारिणी वासवदत्ता!"

अश्रु से परिपूर्ण नेत्रों से वासवदत्ता रोदन भरे स्वर में बोली—"तुम ने मुझे क्यों बचाया, क्यों बचा···?"—अभी तक वासवदत्ता की चेतना दुख के अथाह सागर में लुप्त सी थी। अतः उपगुप्त को शीघ्र नहीं पहचान सकी।

बाण वेधित बीर की भाँति वासवदत्ता चीत्कार कर उठी—"तुम!.... तुम !!...तुम यहाँ क्यों आये?"

उपगुप्त उसे रोके, इसके पहले वासवदत्ता भाग गई।

उसने अपने द्वार अवरुद्ध कर लिये। उसकी सिसकियाँ अब भी सुनाई पड़ रही थीं।

उपगुप्त उसके जीर्ण-शीर्ण गृह के समीप आकर उसका द्वार खट-खटाने लगा।

"कौन हो?"

"......!"—वही खट्खट्।

"कौन हो!"—कहने के संग द्वार खुले—"तुम?"—द्वार पुनः अवरुद्ध हो गये।

"देवी! भिक्षुक का ऐसा अपमान नहीं करना चाहिये। द्वार खोलो।"

द्वार धीरे-धीरे पुनः खुले।

"उपगुप्त!"—वासवदत्ता अश्रु से ओतप्रोत नयनों में क्षमा थी।

"हाँ।"

"क्यों आये हो?"

"तुम से प्रतिज्ञा जो की थी।"

"प्रतिज्ञा?"

"आज पक्ष का अन्तिम दिन है ?"

"हाँ, लेकिन अब लौट जाओ ?"

"क्यों ?"

"समय व्यतीत हो गया है !"

"कौन कहता है ?"

"मैं !"

"किस लिये ?"

"क्योंकि मेरे पास कुछ नहीं है। न कुन्दन सा तन, न वैभव-विलासी मन और इन प्रसाधनों को एकत्रित करनेवाला धन। अतः भिक्षुक लौट जाओ; इस भयानक कुरूप में कोई आकर्षण नहीं है।"

"लेकिन इस भयानक रूप में एक कल्याणकारी अद्वितीय ज्योति का प्रादुर्भाव जो हुआ है ?"

"धैर्य दे रहे हो मुझे, बहला रहे हो मुझे।"

"क्यों ?"

"कौनसी ज्योति का अवतरण हुआ है ?"

"प्यार की ज्योति का !"

"प्यार ?"—चौंक पड़ी वासवदत्ता।

"हाँ प्यार!....भगिनी। तुम्हारे हृदय में प्यार का उद्‌भव तो अभी ही हुआ है। इसके पूर्व एक उद्दाम था, एक वासना थी और वासना नाशवान होती ही है। वासना के नाश के साथ तुम्हारे हृदय का समग्र कलुष धुल गया है। प्रेम का निर्मल निर्झर तुम्हारे उर में प्रवाहित होकर सात्विकता, सादगी और सुबुद्धि का संचार कर रहा है।"

"माता !—उपगुप्त ने पलकों को बन्द करके पुनः खोला—"मैंने इन नेत्रों से तथागत को पृथ्वी पर अमृत वर्षण करते देखा है क्योंकि मेरे मन उनकी मूर्ति का ही अभिलाषी है और तुम मोह तथा प्रलोभन में पड़कर, संसारिक भोग-विलास तथा कामाशक्तता में फँसकर ही तुमने भगवान बुद्ध की कल्याणकारी वाणी का श्रवण नहीं किया, अपितु क्षण भंगुर सौन्दर्य पर गर्वित होकर जीवन के महान् सत्य को विस्मृत कर बैठी।"

"रूप की सुन्दरता और मनोहरता नश्वर है। जीवन के सत्य को जानने का प्रयास करना चाहिये और मुक्ति के मार्ग की ओर प्रशस्त होकर निर्वाण प्राप्ति की ओर प्रत्येक प्राणि-मात्र को प्रयास करना चाहिये।"

वासवदत्ता भिक्षुक की दिव्यवाणी सुनकर के उसके चरणों में लोट गई। चरण वासवदत्ता के अश्रु से तरल हो गये।

शैक्ष उपगुप्त ने उसे उठाकर प्यार से छाती से लगा लिया और स्नेह से उसे सहलाने लगा—"तुम्हें अब प्यार चाहिये और मैं अपने वचनानुसार तुम्हें प्यार दूँगा, एक पुत्र का प्यार, एक भ्राता का प्यार, केवल प्यार नहीं, जीवन का समस्त दुलार।.......उठो! महापुरुष तथागत का ध्यान धर कर के मनसा, वाचा, कर्मणा से उनके द्वारा बताये निर्वाण-पथ के मंत्रों को सुनो। उनके श्रवण मात्र से तुम्हारे अशान्त हृदय को शान्ति मिलेगी, क्लान्त मन को धैर्य मिलेगा।"

इतना कहकर श्रमण-उपगुप्त कुरूपा वासवदत्ता को धार्मिक पद्धति का ज्ञान कराके धर्मोपदेश देने लगे—"अपने भीतर ज्ञान शक्ति, ध्यान शक्ति, कर्मशक्ति, आत्म-विश्वास और उत्साह की उल्का ज्वलित करके तुम्हें

काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, तृष्णा, मत्सर, ईर्ष्या, दुराग्रह, निर्बलता और आलस्य का त्याग करना चाहिये।"

"स्वस्थ तन, इन्द्रिय निग्रह, मन-संयम और पूर्ण पुरुषार्थ, दृढ़ संकल्प के साथ साथ इन आठों दुखों—जन्म, रोग, जरा, मृत्यु, शोक, निराशा, संयोग-वियोग से मुक्त होना चाहिये।"

"अमिताभ के निर्वाण—दुःखों और दुःखों के कारणों से मुक्त होने के मूलमंत्र पर तुम्हें अपने जीवन की समस्त साधना लगा देनी चाहिये। किसी को दुःख नहीं देना चाहिये। किसी की वस्तु को नहीं चुराना चाहिये। सबकी सेवा करनी चाहिये। मिथ्या भाषण से बचना चाहिये, निर्भयता, विवेक और प्रेमपूर्वक सत्यपरायण करना चाहिये। मिथ्या समाचार प्रचारित करना भी एक अपराध है, अतः इससे भी सदैव दूर रहना चाहिये। दूसरों के अवगुणों को मत देखकर उसके गुणों पर ध्यान देना चाहिये। शपथ कभी भी नहीं खानी चाहिये। समय को व्यर्थ में नहीं गंवाना चाहिये। सार्थक बात करनी चाहिये और मौन रहना चाहिये। लोभ-ईर्ष्या का त्याग करके दूसरों की उन्नति से प्रसन्न होना चाहिये। मन से द्वेष मूल को मिटाकर शत्रुओं का भी भला सोचना चाहिये। अज्ञान का नाश करके सत्य का अन्वेषण करना चाहिये। सदा उत्साहित रहना चाहिये। निराशा के अस्तित्व को ही मिटा देना चाहिये।"

उपगुप्त ने शान्त स्वर में कहा—"यही निर्वाण है। इन्हीं उपदेशों का पालन करके प्राणी निर्वाण के परम पद को प्राप्त करता है।"

"वासवदत्ता!"

संभलो!!

जागो !!!

अपने मन की पवित्र-उच्च भावों तथा वृत्तियों का सम्बल लेकर बुद्ध भगवान की शरण में आकर अपने कल्याण की प्रार्थना करो। जीवन का वास्तविक आनन्द तुम्हें वहीं मिलेगा।"

आगे-आगे भिक्षुक चला। भिक्षुक संग यन्त्र संचालित-सी वासवदत्ता द्वार की ओर बढ़ी।

भिक्षुक के अधर पर सौम्य मुस्कान थिरक उठी—उसने मन-ही-मन सोचा—"यह विजय मेरी नहीं, मेरे धर्म की है, मेरे प्रभु तथागत की है।"

द्वार के बाहर होते ही भिक्षुक ने उच्च स्वर में कहा—

"बुद्धं सरणं गच्छामि
धम्मं सरणं गच्छामि
संघं सरणं गच्छामि"

वासवदत्ता ने देखा—भिक्षुक के दिव्यानन पर एक अद्भुत आलोक दीप्त हो रहा है।

द्वार के बाहर ही कवि राहुल नत-नयन किये खड़ा था। उपगुप्त को देख कर वह प्रणाम करने के लिये झुक गया।

उपगुप्त ने आशीर्वाद देकर कहा—"संघ की ओर प्रस्थान करो भिक्षुक!"

और वासवदत्ता के अधर भगवान बुद्ध के शिक्षाओं को उच्चारित करने के लिये तड़प उठे।